मुद्रक:—
श्री जैनोदय प्रिंटिंग प्रेस,
चौमुखीपुल, रतलाम.

युगत्रये पूर्वमतीतपूर्वे,
जातास्तु जाता खलु धर्ममल्ला।
अयं चतुर्थो भवताच्चतुर्थे,
धात्रेति सृष्टोऽस्ति चतुर्थमल्लः॥

सहायकगण की शुभ नामावली
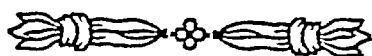
दिवाकर दिव्य ज्योति के नाम से स्व० श्री जैन दिवाकर प्रसिद्ध वक्ता पंडित रत्न मुनि श्री चौथमलजी महाराज के प्रभावशाली व्याख्यान सीरीज रूप में प्रकाशित कराने के लिए निम्नलिखित महानुभावों ने सहायता देकर अपूर्व लाभ लिया, इसके रुपये:—

१००१) श्री श्वे. स्था. जैन महावीर मण्डल, उदयपुर
५०१) श्रीमान् सेठ सिरेमलजी नन्दलालजी पितलिया सिहोर की छावनी
५००) श्रीमान् सेठ गुलराजजी पूनमचन्दजी मदनगंज
३००) ,, ,, चौथमलजी सुराणा नाथद्वारा
२५०) { ,, कुंवर मदनलालजी संचेती ब्यावर ब्यावर
,, सेठ जीवराजजी कोठारी नसीराबाद }
२०१) ,, ,, साहबलालजी मेहता फर्म गुलाबचन्द भंवरलाल मेहता धानमन्डी उदयपुर
२००) ,, ,, शंभूमलजी गंगारामजी बंबई फर्म की तरफ से श्रीमान् सेठ केवलचन्दजी सा. चौपड़ा सोजतसीटी
१५१) ,, ,, चन्दनलालजी मरलेचा गुलाबजार बैंगलोर केंट
१५१) ,, ,, गेंदालालजी मोतीलालजी सा. पोरवाड़ इन्दौर

१५१) श्रीमान् सेठ हजारीमलजी चम्पालालजी सगरावत
मु. निम्बाहेड़ा (राज.)
१५०) ,, ,, राजमलजी नन्दलालजी भुसावल
१५०) ,, ,, हस्तीमलजी जेठमलजी जोधपुर
१२१) ,, ,, कन्हैयालालजी कोटेचा की धर्मपत्नी सौभाग्यवती सूरजबाई कोटेचा फर्म कन्हैयालाल चाँदमल
कोटेचा, बोदवड़ (पू. खा.)
१२५) ,, ,, जिनगर अमरचन्दजी इन्द्रमलजी गोतमचन्दजी जैन गंगापुर
१२५) ,, ,, कस्तुरचन्दजी पुनमचन्दजी जैन गंगापुर
१२५) ,, ठेकेदार तोलारामजी भंवरलालजी उदयपुर
१२५) ,, ,, घनराजजी फतहलालजी उदयपुर
१२५) ,, ,, श्रीमती सोभाग्यवती तारादेवीबाई कोटेचा फर्म श्रीमान सेठ मांगीलालजी केसरीचन्दजी
कोटेचा भुसावल (पू० खा०)
१०१) ,, ,, श्रीमान सेठ रंगलालजी झामड़ नांदूरावाले की धर्मपत्नी श्रीमती सौभाग्यवती तुलसीबाई
नादूंरा (बरार)
१०१) श्रीमान जिनगर तेजमलजी रोशनलालजी गंगापुर (मेवाड़)
१०१) ,, पन्नालालजी बाफणा की पूज्य मातश्वरी मोहनबाई
उदयपुर
१०१) श्रीमान सेठ मोतीचन्दजी रतनचन्दजी चोरड़िया
मु० कटंगी (बालाघाट)
१०१) ,, ,, गणेशलालजी भँवरलालजी पंसारी कोटा
१०१) ,, ,, अमोलकचन्दजी बोहरा फर्म
रखबचन्दजी लालचन्दजी जैन रामगंज मंडी
१०१) श्रीमान सेठ जसराजजी मोहनलालजी बोहरा,
मु० सोरापुर भंडार

१०१) श्रीमान् सेठ सूरजमलजी सा० बोथरा
फर्म कन्हैयालालजी इन्द्रमलजी जैन
मु० रामगंज मन्डी

१०१) सौ० पार्वतीबाई फर्म उत्तमचंद नवलचन्द एन्ड सन्स
बरडिया जलगांव (पू० खा०)

१०१) श्रीमान सेठ रतनलालजी गांग के सुपुत्र पोपटलालजी की
धर्मपत्नी श्रीमती शान्तिबाई मु० चींचखेड़ा ता.
जामनेर पो. फतहपुर (पू० खा०)

१०१) ,, ,, गणेशमलजी छत्तीसा बोहरा की धर्मपत्नी
श्रीमती सौ० पानबाई खामगांव

१०१) ,, ,, मगनीरामजी हनुमतमलजी झामड़ तर्फे
श्रीमान् उत्तमचन्दजी रतनलालजी झामड़
मु० खामगांव (वरार)

१०१) ,, ,, रामचन्द्रजी बोथरा अपने स्व० पूज्य पिताजी
सेठ घासीरामजी की स्मृति में वांदला वरार

१०१) ,, ,, धनराजजी हीरालालजी जैन खटोड़ मेड़सीवाला
मु० पो० अकोला (वरार)

१०१) ,, ,, रामानन्दजी मोतीलालजी जांगड़ा
धामणगांव वरोरा (म प्र)

२०१) ,, ,, मांगीलालजी चोरड़िया की धर्मपत्नी
श्रीमती राजीबाई वरोरा (म. प्र.)

१०१) ,, ,, भेरुलालजी अगतमलजी वरोरा (म. प्र.)

१०१) ,, ,, सागरमलजी राजमलजी बोहरा
चन्दनखेड़ा वाला बरोरा (म. प्र.)

१०१) ,, ,, गणेशमलजी गुलाबचंदजी गोठी वरोरा (म. प्र.)

१०१) ,, ,, मोहनलालजी मदनलालजी कोटेचा
अड़ेगांव वाला (वणी) वरार

१०१) श्रीमान् बालचन्दजी ताराचन्दजी कोटेचा मु० वणी (बरार)
१०१) ,, चुन्नीलालजी के सुपुत्र स्व. पानमलजी चोरड़िया, की धर्मपत्नी श्री ताराबाई मु० वणी (बरार)
१०१) ,, मुलतानमलजी बलवन्तरामजी खींचा -मु० सावरगांव (बरार)
१००) ,, प्राणलालजी सा. सांखला, उदयपुर
१२१) ,, माणकचन्दजी छगनलालजी गोठी, जयपुर
१०१) ,, जवाहरमलजी मुल्तानमलजी बम्ब, भुसावल
१०१) ,, हीरालालजी मोतीलालजी धानेचा बोहरा खामगांव
१०१) ,, मिश्रीमलजी पारसमलजी कातरेला, बैंगलोर सिटी
१०१) ,, कन्हैयालालजी बच्छराजजी सुराणा, बागलकोट
१०१) ,, नवरतनमलजी सिंघवी फूलियाकलां
१०१) ,, मन्नालालजी भेरूलालजी पोरवाड़ राजाखेड़ी वाला मन्दसौर
१०१) ,, लालचन्दजी मोतीलालजी ललवानी तोंडापुर (खानदेश) स्वर्गीय पिताजी प्रतापमलजी की स्मृति में
१०५) ,, बसंतीलालजी सुन्दरलालजी जैन पिपलिया
१०१) ,, देवराजजी जीतमलजी बीजापुर
१०१) ,, जीवराज महता की धर्म पत्नी चन्द्रकलाबाई पूना
१०१) ,, रतनचन्दजी सेसमलजी, बांद्रा बम्बई
१०१) ,, शम्भुमलजी माणकचन्दजी चोरड़िया मद्रास
१०१) ,, कुन्दनमलजी पुखराजजी लूंकड़ बैंगलोर

-: विषयानुक्रमणिका :-

१

पुण्य-प्रभाव

स्तुतिः—

> इत्थं यथा तव विभूतिरभूज्जिनेन्द्र !
> धर्मोपदेशनविधौ न तथा परस्य ।
> यादृक् प्रभा दिनकृतः प्रहतान्धकारा,
> तादृक् कुतो ग्रहगणस्य विकाशिनोऽपि ॥

भगवान् ऋषभदेव की स्तुति करते हुए आचार्य महाराज फर्माते हैं-हे सर्वज्ञ, सर्वदर्शी, अनन्त शक्तिमान, पुरुषोत्तम ऋषभदेव भगवन् ! आपकी कहाँ तक स्तुति की जाय ? प्रभो ! आपके गुण कहाँ तक गाये जाएँ ?

हे जिनेन्द्र देव ! आपकी प्रत्यक्ष में जो विभूति है, वह धर्मोपदेश देने की अपूर्व विधि है। ऐसी धर्मोपदेश देने की विधि किसी दूसरे की नहीं है। सच है, अंधकार का विनाश करने का जैसा कार्य सूर्य करता है, वैसा ग्रह, नक्षत्र और तारक आदि नहीं कर

सकते। तारे आदि खूब खिले हों फिर भी सब मिल कर भी वैसा प्रकाश करने में समर्थ नहीं हो सकते जैसा प्रकाश अकेला सूर्य करता है। सूर्य में यह अपूर्व और अद्भुत शक्ति है कि वह रात्रि मिटा कर दिन कर देता है। सघन अंधकार को नष्ट करके उज्ज्वल प्रकाश से समग्र भूमंडल को आलोकित कर देता है। इसी प्रकार भगवान् की वाणी जन-जन के अज्ञानान्धकार को नष्ट करती है और तत्त्वज्ञान का अपूर्व प्रकाश फैला देती है।

इस प्रकार अपूर्व धर्मोपदेश करने वाले भगवान् श्रीऋषभदेव हैं। उन्हीं को हमारा वार-वार नमस्कार है।

भाइयो ! आज संसार में सैकड़ों मजहब हैं और उन सब में भिन्नता नज़र आती है। प्रत्येक मजहब का अपना-अपना ढंग है। अपना--अपना अलग सिद्धान्त है, अलग--अलग मान्यता है, अलग--अलग आचारपद्धति है। सबका यह दावा है कि उनके द्वारा प्रतिपादित आचार-विचार ही उत्तम है। वही स्वर्ग-मोक्ष का साधन है। उसी का अनुसरण करने से कल्याण होगा। सबका यह दावा है कि उनके सिवाय किसी दूसरे का मन्तव्य सच्चा नहीं है और जो वह कहते हैं, वह सच्चा और वास्तविक है।

मगर साधरण-सा विचार करने पर ही समझ मे आ सकता है कि सबका यह दावा सही नहीं है, क्यों कि उनके तत्त्व विचार की पद्धति में और आचार प्रणाली में इतना अधिक अन्तर है कि सब परस्पर विरोधी मन्तव्य सत्य नहीं हो सकते। अगर सब में सच्चाई होती तो उनमें इतना बहुत अन्तर दृष्टिगोचर न होता। अगर सब जगह पूर्ण ज्ञानी के वचन होते तो सब मजहब एक होते और इतने फिर्के नजर न आते। जो उपदेश हम दे रहे हैं, वही मौलवी और पादरी भी देते। मगर उपदेश में एकरूपता नहीं है। सब अपनी--

अपनी ढपली अपना अपना राग अलाप रहे हैं। अतएव निस्सन्देह कहा जा सकता है कि सब के वचन पूर्ण ज्ञानी के वचन नहीं हैं।

धर्म संबंधी मतभेदों पर विचार करते-करते साधारण आदमी की बुद्धि चक्कर में पड़ जाती है। कोई मनुष्य विचार न करके किसी एक मजहब को पकड़कर बैठ जाय, यह बात न्यारी है, मगर जो सत्य-असत्य का निर्णय करके किसी एक परिणाम पर पहुंचना चाहता है, उसे बड़ी परेशानी होती है, झुंझलाहट होती है। यही कारण है कि निराशा के यह स्वर सुनाई देते हैं—

तर्कोऽप्रतिष्ठः श्रुतयो विभिन्ना,
नैको मुनिर्यस्य वचः प्रमाणम्।
धर्मस्य तत्वं निहितं गुहायाम्,
महाजनो येन गतः स पन्थाः॥

तर्क का कोई ठिकाना नहीं है। वह रबड़ की गेंद है जिसे जिधर लुढ़काओ, उधर ही लुढ़क जाता है। ऐसे बेपैंदे तर्क पर क्या भरोसा किया जा सकता है! जिसकी बुद्धि प्रखर होती है और जो ज्यादा बोलना जानता है, वही अपने प्रतिस्पर्धी को चुप कर देता है। ऐसी हालत में तर्क से ही यदि धर्मतत्व का निर्णय करना चाहे तो कैसे करें?

धर्मतत्त्व के निर्णय का दूसरा साधन शास्त्र है। मगर जब शास्त्रों का सहारा लेते हैं तो भी कुछ ठिकाना नहीं लगता। शास्त्र एक पूरब में तो दूसरा पच्छिम में जाता है। एक प्राणी मात्र पर दया करने और सब जीवों को आत्म-तुल्य समझने का विधान करता है तो दूसरा कहता है—

यज्ञार्थं पशवः सृष्टाः स्वयमेव स्वयंभुवा ।

अर्थात् ब्रह्माजी ने पशुओं की रचना यज्ञ करने के लिए की है अतएव यज्ञ में उन्हें होमना चाहिए ।

और--और बातों में भी शास्त्रों के विधान परस्पर विरुद्ध हैं । ऐसी दशा में किसे प्रमाणभूत मानें ? किसे अप्रमाण समझ कर त्याग करें ?

ऋषियों--मुनियों का आसार लें तब भी कुछ निर्णय नहीं हो पाता । सोचें, यह सब त्यागी हैं । घर छोड़ कर साधना के लिए निकले हैं । तत्त्व का चिन्तन करते हैं । इनके अनुभव के आधार पर धर्म का ठीक--ठीक निर्णय हो जायगा । मगर ऐसा होता नहीं । एक ऋषि होता तो कोई बात भी थी, किन्तु ऋषियों--मुनियों की संख्या विपुल है और सब के अपने--अपने अलग मन्तव्य हैं फिर एक नतीजे पर पहुँचें तो कैसे ?

इस प्रकार धर्म का रहस्य स्पष्ट हो नहीं पाता कि धर्म क्या है ? अधर्म क्या है ? ऐसी दशा में वे उसी मार्ग पर चल पड़ना चाहते है जिस पर बहुत से लोग चल रहे हैं ।

इस प्रकार की भावना बहुतों में पाई जाती है । इसका मूल यही है कि सब धर्मों के विधान परस्पर विरोधी हैं । एक का दूसरे के साथ मेल नहीं खाता ।

इतना सब कुछ होने पर भी क्या वास्तव में धर्म का तत्त्व इतना गहन है कि वह समझ में आ ही नहीं सकता ? अगर ऐसा होता तो धर्म का उपदेश ही नहीं दिया जाता । धर्म का निर्णय अवश्य हो सकता है, परन्तु निर्णय करने के लिए सच्चा और निष्पक्ष

जिज्ञासा होनी चाहिए। शुद्ध और सरल अन्तःकरण धर्म का निर्णय करने की सबसे अच्छी कसौटी है। तुम्हे मरना और कष्ट पाना पसंद है ? नहीं। तो इसी प्रकार दूसरों को भी पसंद नहीं है। जिस प्रकार तुम जीवित रहना चाहते हो, उसी प्रकार दूसरे प्राणी भी जीवित रहना चाहते है,। बस, इसी सिद्धान्त पर धर्म का निर्णय किया जाय। अहिंसा को ही समग्र आचार--विचार की कसौटी बना कर विचार करोगे तो धर्म का निर्णय करना कठिन नहीं होगा।

यदि सब मजहब वाले दया धर्म का उपदेश देते तो आज सर्वत्र शान्ति नजर आती, क्यों कि भगवान् के उपदेश में फर्क नहीं है। क्या सूरज में से कभी अंधेरा निकलता है ? भगवान् के मुखारविन्द से तो यही बात निकलती है कि किसी जीव को तकलीफ मत दो।

तब यह सब क्यों हो रहा है ? लोग अपनी मनमानी और कपोलकल्पित बातें कह-कह कर दुनिया के लोगों को उलटा रास्ता दिखला रहे हैं।

लोग कहते है-सारी सृष्टि ईश्वर ने बनाई है। तो फिर ईश्वर ने यह हिन्दू क्यों बनाये और इन मुसलमानों को क्यों बनाया ? बेमतलब ईश्वर ने यह झगड़ा क्यों खड़ा कर दिया ? क्या उसे लड़ाई-झगड़ा देख कर मजा लूटने का शौक है ? लेकिन भाइयो ! यह सब झगड़े ईश्वर ने नहीं किये है। यह तो सब दुनिया ने ही अडंगे खड़े किये है। ईश्वर का तो यही उपदेश है कि किसी को तकलीफ मत दो। सब को साता पहुँचाओ।

दो प्रकार की सृष्टि है—आर्यसृष्टि और अनार्यसृष्टि। वचन भी दो प्रकार के हैं-आर्यवचन और अनार्यवचन। 'मारो, काटो, छेदो,

भेदो, कत्ल करो ऐसा करने में कोई दोष नहीं है. इस प्रकार के वचन अनार्यवचन है। धन लूट लो आग लगा दो, औरतें छीन लो; ऐसी वाणी आर्य जनों की नहीं होती।

आर्यवचन यह है—किसी आदमी की हथेली पर आग से तपा हुआ लोहे का गोला रक्खा जाय और वह कहे कि इससे मुझे तकलीफ होती है, मेरा हाथ जलता है और यह मुझे अप्रिय है, अनिष्ट है, प्रतिकूल है, नापसंद है तब उससे कहा जाय--जब इससे तुझे तकलीफ होती है तो यह क्यों नहीं समझता कि ऐसा करने से दूसरों को भी ऐसी ही तकलीफ होती है ? फिर क्यों दूसरों को मारने का हुक्म देता है ? क्या आत्मा तू ही है ? दूसरे नहीं है ?

भाइयो ! किसी को तकलीफ न देने के वचन ही आर्यवचन हैं और जो मारने--काटने का उपदेश है, वह सब अनार्यवचन हैं। सच्चा उपदेश तो यही है कि किसी को कष्ट न पहुँचाओ। सब को अपने तुल्य समझो। सब लोग यही उपदेश देने लगें तो दुनिया से पाप ही उठ जाय ! जेलखाने उठ जाएँ और दुनिया पर स्वर्ग उतर आय !

दुनिया में तरह--तरह के अस्त्र--शस्त्र क्यों बनाये जा रहे हैं ? क्या किसी को ईश्वर ने हुक्म दिया है कि तू दूसरों को तकलीफ दे ? यह तो तुझे मालूम है कि यह दाना उसके ही मुँह में जाने वाला है तो तू क्यों दखल देता है ?

हम लोग जहाँ जाते हैं, लोगों को शान्ति का ही मार्ग समझाते हैं और ऐसे कार्य करने का उपदेश देते हैं जिससे उन्हे और दूसरों को भी शान्ति प्राप्त हो। इसी कारण राजा लोग कहते

हैं कि आप जल्दी ही हमारी रियासत मे पधारिए। वे जानते हैं कि हम लोगों के रहने से सब तरह शान्ति रहती है।

एक बार हम बड़नगर पहुँचे। मालूम हुआ कि यहाँ ताजियों के कारण लोगों में तनातनी है। हमने उपदेश दिया। हिन्दू भी सुनने आये और मुसलमान भी। फौज लिये सूबा साहब भी बड़-नगर में जमे थे। एक दल कहता था--ताजिया इधर से ले जाएँगे और दूसरा कहता था -नहीं, इधर से नहीं उधर से ले जाना पड़ेगा।

मेरे उपदेश के बाद सूबा साहब ने लोगों को बुला कर पूछा अब आप लोग क्या चाहते हैं? सब ने कहा- जैसा आप कहेंगे, वैसा ही कर लेंगे।

सूबा साहब बोले--पहले तो आप लोग मानते नहीं थे और अब कैसे मान गये?

तब उन लोगों ने कहा—आज महाराज ने ऐसा ही उपदेश दिया कि हम विरोध की बातें भूल गये।

यह सुनकर सूबा साहब मेरे पास भी आये और बहुत देर तक बातें करते रहे।

तात्पर्य यह है कि साधु-संतो का काम है जनता की शुभ और पवित्र भावनाओ को बढ़ावा देना, अप्रशस्त उत्तेजनाओं को, जो समय--समय पर दिलों को अभिभूत करती हैं, दबा देना और इस प्रकार संसार में शान्ति की स्थापना करने के लिए प्रयत्नशील होना। इसी उद्देश्य को लेकर हम भ्रमण करते हैं। हम तुम्हारा भला चाहने वाले और भला करने वाले हैं। बाप, बेटा, सासू, बहू

सब हमारे उपदेश के अनुसार चलें तो घर का कलह ही मिट जाय और जेलखाने का मुँह न देखना पड़े।

आखिर सब लोग चाहते क्या हैं। सब आस्तिकों का उद्देश्य एक ही है और वह है मोक्षप्राप्ति। इस संबंध में श्री सूत्रकृतांग में कहा है—

ठितीण सेट्ठा लवसत्तमा वा,
सभा सुहम्मा व सभाण सेट्ठा।
निव्वाणसेट्ठा जह सव्वधम्मा,
ण णायपुत्ता परमत्थि नाणी॥

हर एक मजहब समझ ले कि सब मजहबों का सार मोक्ष-प्राप्ति है। क्या कोई भी नरक में जाना चाहता है? कोई कुत्ता बनना चाहता है? गधे की योनि में उत्पन्न होना चाहता है? किसी भी धर्म, मत या पथ की स्थापना मनुष्य को कीड़ा-मकोड़ा बनाने के लिए नहीं हुई है। प्रत्येक धर्म पन्थ निरंजन-निराकार पद प्राप्त करने को मार्ग की ओर संकेत करता है। सब धर्म एक स्वर से कह रहे हैं कि निर्वाण सब में श्रेष्ठ है।

निर्वाण की तारीफ नहीं हो सकती। वह ऐसे अमन की जगह है और चैन का स्थान है कि आप कल्पना भी नहीं कर सकते। वहाँ अनन्त सुख है। उसका पूरी तरह जिक्र करने के लिए हमारे पास उपयुक्त शब्द नहीं हैं।

श्रीमद् आचारांगसूत्र में बतलाया है कि--हे गौतम! मोक्ष के सुख का स्वरूप बतलाने के लिए कोई शब्द नहीं है। जैसे गूंगा आदमी गुड़ के स्वाद को जानता है, लेकिन उसका वर्णन नहीं कर

सकता इसी प्रकार मुक्तात्मा जीव, जिन्हे निरञ्जन पद प्राप्त हुआ है, मोक्ष सुख का अनुभव तो करते हैं, मगर उसे प्रकट करने के लिए उनके पास भी शब्द नहीं है।

बत्तीस हजार मुकुटबद्ध राजा जिसकी हाजिरी में खड़े रहते हैं और हाथ जोड़े आज्ञा की प्रतीक्षा करते रहते हैं, उस छह खंड के अधिपति चक्रवर्त्ती का सुख उत्तम है या मोक्ष का सुख उत्तम है? अगर चक्रवर्त्ती का सुख उत्तम होता है तो स्वयं चक्रवर्त्ती भी अखंड षट्खंड के महान् साम्राज्य को ठोकर मार कर क्यों भिक्षु-जीवन स्वीकार करते? चक्रवर्त्ती स्वयं अपने सुख को मोक्ष सुख की तुलना में तुच्छ अतितुच्छ समझता है।

लोग कहते हैं--महाराज, हमारी इच्छा साधु बनने की क्यो नहीं होती? मगर भाई, साधु बनने का मन होने के लिए भी पुण्य की आवश्यकता है। उपदेश का असर किस पर होता है? जिस जीव ने पूर्व काल में प्रकृष्ट पुण्य का उपार्जन किया है, उसी को उपदेश सुनकर तदनुसार आचरण करने की इच्छा होती है। जिसके पास पुण्य की पूंजी ही संचित नहीं है, उसे उपदेश कैसे लग सकता है?

देखो, अपने लाड़ले लघु भ्राता गज सुकुमार की शादी, के लिए श्रीकृष्ण ने ९९ लड़कियाँ कुमारी अन्तःपुर में इकट्ठी कर ली थीं। लड़कियाँ सब ऐसी सुन्दरी कि इन्द्र की परी हों। देवांगनाएँ भी उनका मुकाबिला नहीं कर सकती थीं। सिर्फ एक कन्या की कमी थी।

आज किसी को लूलो-लँगड़ी स्त्री मिल जाय तो हजरत घमंड में फूले नहीं समाते और समझते हैं मानों पद्मिनी मिल गई

है ! इतना ही नहीं, घमंड में आकर कहते हैं- महाराज, कभी हमारी हवेली भी तो देखिए।

बार--बार के आग्रह के बाद महाराज पधारते हैं तो क्या हाल दिखाई देता है ?

टूटो सो छप्पर घर बिल हैं अनेक ठोर,
कोर नोर केई मुसा करी ने समेत है।
खाट एक वाया बिन गूदड़ो बिछाया बिन,
चाँचण माकड़ जुंवा करी ने समेत है।
खाण्डो हाण्डो वाण्डो चाटू टूटो बेटो लूलो,
बेटी बोबड़ो जंवाई परिवार करि समेत है।
कारी सी कुरुप देह ऐसी है तिया को नेह,
मान को मरोड्यो जीव अजू हू न चेत है ॥

हवेली पधारो महाराज ! और जब महाराज श्रीमान् सेठजी की हवेली पर जाते हैं तो क्या देखते है कि टूटा हुआ घर है, जिसमें सोते-सोते ही आसमान नजर आ जाता है। जब पानी बरसता है तो छोरा-छोरी रोते हैं और कहते हैं-हम तो भोग रहे हैं। तब कहीं थाली और कहीं परात लगा दी जाती है। मकान के फर्श में कहीं-कहीं चूहों के बिल हैं तो कहीं नागराज दर्शन दे रहे हैं। कहीं चूहे और कहीं बिच्छू दौड़ लगा रहे है। खाना पकाने की हँडिया फूटी हुई है और चाटू भी टूटा हुआ है। बेटा टोंटा और बेटो लूलो है। जामाताजी एँ-एँ करते हैं। और पद्मनी की तरफ देखो तो ऐसा जान पड़ता है कि कोयले की प्रतिमा गढ़ दी है किसी ने। दांत बाहर निकले हैं, मानों खाने को दौड़ रहो है।

पतिदेव कदाचित् कहे कि आज मैं एकासना करूँगा, अतएव देर से भोजन करूँगा, तो नाक सिकोड़ कर कहती है-खाना है तो अभी खा लो, नहीं तो उपवास ही कर लेना। दोपहर को गर्मी में मुझसे झंझट न होगा।

इस प्रकार की असाधारण विभूति मिली है, फिर भी मनुष्य मान से मतवाला बना फिरता है और मोह में आसक्त होकर तपस्या या अन्य धर्मक्रिया नहीं करता! चक्रवर्त्ती अपना वैभव त्याग सकता है पर इन सेठजी से यह वैभव भी नहीं छोड़ा जाता। फिर पुण्य-सचय हो तो कैसे हो? पहले पुण्योपार्जन नहीं किया, उसका फल प्रत्यक्ष दिखाई दे रहा है, फिर भी मनुष्य सावधान नहीं होता।

मनुष्य की विवेकशीलता इस बात में है कि वह भूतकाल से शिक्षा लेकर वर्त्तमान को सुधारे और वर्त्तमान का भविष्यत् के लिए सदुपयोग करे। जिसमें इतनी भी बुद्धि नहीं, उसे मनुष्य कहना भी कठिन है।

महान् मानव थे गजसुकुमालजी। सौ सुन्दरी कन्याओं के साथ उनके विवाह की तैयारी हो रही थी। उन्हीं दिनों भगवान् अरिष्टनेमि द्वारिका में पधार गये। कृष्णजी गजसुकुमाल को साथ लेकर, चतुरंगी सेना सहित भगवान् के दर्शन के लिए जा रहे थे। रास्ते में सोमल नामक ब्राह्मण की सोमा नाम की कन्या पसंद कर ली और भगवान् की वाणी सुनने चले गये।

प्रभु ने उपदेशामृत की वर्षा की। उपदेश का प्रीति के साथ पान करते ही गजसुकुमालजी के चित्त मे वैराग्य के अंकुर उत्पन्न हो गये। वे सोचने लगे-दुनिया झूठी है। जीवन क्षणिक है। इसकी

जड़ मजबूत नहीं है। किसी भी समय उखड़ सकती है। जीवन का पौधा किसी भी क्षण सूख सकता है। अतएव सांसारिक भोग-विलास में इसका अपव्यय करना अनुचित है। इस जीवन की सार्थकता है आत्मकल्याण की साधना में।

गजसुकुमाल घर लौटे तो कहने लगे-मैं दीक्षा अंगीकार करके साधु जीवन व्यतीत करूँगा। देवकी माता ने अपने अतिशय प्रेमपात्र के यह विचार सुने तो रोने लगी और बोली--यह सब गाजे-बाजे तेरे ही पीछे हैं।

कृष्णजी ने कहा--मेरे छह भाई तो पहले ही अभिनिष्क्रमण कर चुके हैं। तू ही एक रहा है। तू चला जायगा तो मेरा समय कैसे कटेगा? हमारी इच्छा तो तुझे राजा बनाने की है।

इस प्रकार माता और ज्येष्ठ बन्धु के आग्रह को भी अस्वीकार करके गजसुकुमार अपने संकल्प पर दृढ़ रहे। तब कृष्णजी ने धूमधाम के साथ उनका राज्याभिषेक करने की तैयारी की। गजसुकुमालजी ने मना नहीं किया। चुपचाप सब तैयारियाँ देखते रहे। अन्त में वे राजा बना दिये गये। तब श्री कृष्णजी ने उनसे कहा—महाराज, क्या आदेश है?

गजसुकुमाल राजा बन कर भी अपने संकल्प से विचलित नहीं हुए थे। उनकी साधु बनने की धुन ज्यों की त्यों थी। अतएव वह कहने लगे—

तीन लाख सौनैये ज़ल्दी श्रीभंडार लाओ।
दो लाख का ओघा-पातरा कुंत्यावण से मंगाओ,
एक लाख नाई को देकर उसको वेग बुलाओ॥

राजा गजसुकुमाल आज्ञा देते हैं-श्रीभंडार से शीघ्र ही तीन लाख सौनैए मंगवाये जाएँ। उनमें से दो लाख देकर ओघा और पात्र खरीद लिये जाएँ और एक लाख देकर नाई को बुला लिया जाय। मुझे शीघ्र साधुव्रत अंगीकार करना है।

कहिए, गजसुकुमाल के चित्त पर उपदेश का कैसा प्रभाव पड़ा। भगवान् अरिष्टनेमि के वचनों ने जादू का सा काम किया। असल में वे पुण्यवान् पुरुष प्रबल पुण्य का उपार्जन करके आये थे, जिसके कारण उनके हृदय पर उपदेश का गहरा असर पड़ा। जिसने पुण्योपार्जन नहीं किया, उस पर उपदेश का प्रभाव नहीं पड़ता। कहा भी है—

पुण्यहीन खेती करे
बैल मरे या सूखा पड़े।

और भी—

पुण्यहीन जीमण ने जावे,
लोटा गँवावे या माखी खावे।

अभागा मनुष्य खेती करेगा तो या तो बैल मर जायगा या वर्षा के अभाव में खेती ही सूख जायगी। वह जीमने जायगा तो या तो लोटा ही अपना खो बैठेगा अथवा भोजन के साथ मक्खी निगल जायगा, जिससे गाँठ का पहले का खाया--पीया भी निकल जायगा।

अरे पुण्यहीन! तुझ पर उपदेश का क्या असर हो सकता है? उपदेश का असर तो भाग्यवान् पर होता है।

एक घर में तीन भाई थे। उनमें से। एक चक्की पीसता, दूसरा पानी भरता और तीसरा रोटियाँ बनाता था। यह दशा देख कर मुनिराज ने कहा--क्या देखते हो। कुछ धर्मध्यान करो। पहले पुण्य नहीं किया, इसी से इस समय दुःख पा रहे हो। अब तो धर्मध्यान करो। साधुजीवन यापन करो।

तब वह बोले-नहीं महाराज, यह हमसे न होगा। पेट भर खाना मिल जाय, बस यही हमारे लिए पर्याप्त है। संयम हमसे नहीं पलेगा।

भाइयो! शालिभद्र जैसे रईस बात की बात में साधु बन जाते हैं, लेकिन मँगते क्या एक भी माला फेरते हैं। वे परमात्मा का नाम तक लेते हैं? वे तो गली-गली में 'बावजी, रोटी दे दो' की रट लगाते रहते हैं। वह मुसलमान हो तो नमाज़ न पढ़े और हिन्दू हो तो माला न फेरे!

ईश्वर का नाम तो पुण्यवान् ही ले सकता है।

'महाराज! क्या करें, सामायिक में मन ही नहीं लगता।' अरे भले मानुस! तू पुण्यहीन है, तभी तो इस तरह कायरता की बात करता है। तू मन का इतना गुलाम क्यों बन रहा है? मन तेरा है? या तू मन का है? मन तेरा है। तू मन का स्वामी है। मन को लगाना या न लगाना तेरे हाथ में है। अपने मन पर काबू कर। मन को अधीन बना। लगता क्यों नहीं, उसे तू आज्ञा दे कि धर्मध्यान में तुझे लगना ही पड़ेगा। फिर देखना क्यों नहीं लगता है! गप्पों में मन लगता है, मगर धर्मध्यान में नहीं लगता, यह तेरी बड़ी दुर्बलता है। इस दुर्बलता को दूर कर।

भाइयो! जो छह महीने की बीमारी से उठा हो, उसे बादाम का हलुवा खाने को कहा जाय तो क्या वह हजम कर सकेगा?

कभी नहीं। इसी प्रकार जिसने पुण्य का बल प्राप्त नहीं किया है, उसे धर्मध्यान का हलुवा हजम नहीं हो सकता।

तो सब धर्मों का ध्येय एक ही है-मोक्षप्राप्ति। मोक्ष का सुख चक्रवर्ती के सुख से अनन्त गुणा श्रेष्ठ है। इसी कारण चक्रवर्त्ती अपने सुख का त्याग कर मोक्ष सुख के लिए साधु बनते हैं। और इधर इन मँगतों को देखो कि जिनके पास खाने को थाली और पानी पीने के लिए लोटा भी नहीं है, जो दाने-दाने के लिए भी तरसते हैं, उनसे धर्मध्यान नहीं होता! ईश्वर का नाम लेने ही में उन्हे मुसीबत मालूम होती हैं। ऐसे लोग न इधर के रहते हैं न उधर के। कहा है-

नहीं जोग सधा नहीं भोग मिला,
न इधर के रहे न उधर के रहे ।
न धन ही कमाया न धर्म किया,
न इधर के रहे न उधर के रहे

कब विवाह हो और कब लुगाई मिले, यह सोचते सोचते ही बुढ़ापा आ गया। न साधुपन लिया गया और न भोग ही भोग पाये। कब लखपति और कब करोड़पति बनूँ, यह सोचते-सोचते ही सारी जिंदगी समाप्त हो गई। न धन मिला, न दान दिया गया। अतएव न इधर के रहे न उधर के रहे।

किसी जगह एकान्त मे एक गाँव था। उस गाँव में होकर कभी-कभी ब्राह्मण जाति के मुसाफिर निकलते थे और पूछते थे-यहाँ ब्राह्मण का भी कोई घर है? ब्राह्मण, ब्राह्मण के घर ही पानी पीते हैं, अतएव वे ब्राह्मण के घर की तलाश करते थे।

कई वार ब्राह्मण मुसाफिरों ने जब यह प्रश्न किया तो गाँव के पटेल ने मुखिया जनों को इकट्ठा किया और सोचा-अपने गाँव में कोई ब्राह्मण भी होना चाहिए। मगर कठिनाई यह थी कि ब्राह्मण कहाँ से लाया जाय ? मालूम हुआ कि ब्राह्मण तो शहर में ही मिल सकते हैं।

गाँव के कुछ लोग ब्राह्मण की खोज में शहर में पहुँचे। ब्राह्मणों से मिल और कहा-हमें एक ब्राह्मण चाहिए। तब उन्होंने उत्तर दिया-यहाँ सीधा आता है। सदा लड्डू खाने को मिलते है। श्राद्ध के दिन आते हैं तो जैसे स्वर्ग भूमि पर उतर आता है। कोई मर जाता है तो उसके पीछे भोजन मिलता है। जन्मता है, तब भी माल मिलते हैं। वहाँ गँवाई गाँव मे क्या पड़ा है ? कौन शहर छोड़ कर गाँवड़े में जाना पसंद करेगा ?

ब्राह्मणों का यह उत्तर सुन कर गाँव वालों को बहुत निराशा हुई। उसी समय उन्हें एक नवयुवक मिला। उसने ग्रामीणों को कठिनाई सुन कर कहा-तुम लोग वृथा क्यों परेशान होते हो ? यहाँ से कोई ब्राह्मण तुम्हारे गाँव में बसने को तैयार नहीं होगा। किन्तु मैं यह कहता हूँ कि ब्राह्मण की कोई बनी-बनाई जाति नहीं होती। कोई भी बालक जब जन्म लेता है तो उसके ललाट पर ब्राह्मण नाम लिखा नहीं होता। शास्त्र कहता है-

जन्मना जायते शूद्रः कर्मणा द्विज उच्यते।

जन्म से तो सभी मनुष्य शूद्र ही होते हैं, पीछे कर्म से अर्थात् आजीविका से द्विज बनते हैं। सोतुम ब्राह्मण की खोज बंद करदो। पाँच आदमी मिल कर जिसे ब्राह्मण बना दें, वही ब्राह्मण हो जाता है। इस तरीके से तुम ब्राह्मण बना लो।

ग्रामीणों को यह युक्ति पसंद आ गई। वे गाँव में आकर फिर इकट्ठे हुए और कहने लगे-कोई ब्राह्मण बन जाय तो उसे हम दान देंगे, सीधा देंगे खेती में से धान देंगे और उसका सत्कार करेंगे।

एक बोला—मैं ब्राह्मण बनने को तैयार हूँ; मगर ब्राह्मण को प्रतिदिन स्नान करना पड़ता है। शीतकाल में तो जान निकल जाएगी नहाते-नहाते !

आखिर कोई भी तैयार न हुआ ब्राह्मण बनने के लिए। तब सोचा गया-चलो, किसी स्त्री को ब्राह्मणी बना लिया जाय ! उसीसे काम चल जायगा। मगर किसी स्त्री ने भी यह महान् प्रस्ताव स्वीकार नहीं किया।

हसनिया पिंजारे की बुढ़िया माँ थी। उसने सोचा—मैं ब्राह्मणी बन जाऊँ तो क्या हानि है ? घर-बैठे सीधा खाने-पीने का मिल जायगा। सब प्रकार की झंझटों से छुटकारा मिल जायगा। यह सोच कर उसने कहा-अगर तुम्हें मंजूर हो तो मैं ब्राह्मणी बनने को तैयार हूँ।

लोगों को तो यही चाहिए था। उन्होंने उसका प्रस्ताव स्वीकार कर लिया। सब ने पहले नवनिर्मिता ब्राह्मणी के हाथ का भोजन किया और प्रतिज्ञा की कि अब से जो भी ब्राह्मण का घर पूछेगा, उसे इसका ही घर बता दिया जायगा।

बस, सिलसिला चालू हो गया। कोई भी राहगीर आता और ब्राह्मण का घर पूछता तो उसी बुढ़िया का घर बता दिया जाता था। इस [illegible] व्यतीत हो गये।

एक बार दो नवयुवक उस गाँव में आये। वे काशी स विद्या भ्यास करके अपने घर लौट रहे थे। रास्ते में वह गांव आगया। ऊँट पर उनकी पुस्तकें लदी हुई थी। वे भूख और प्यास से व्याकुल हो रहे थे। गांव में आकर उन्होंने पूछा-यहाँ कोई ब्राह्मण का घर है क्या ? लोगों ने कहा-हाँ, एक ब्राह्मणी का घर है।

नवयुवक उस ब्राह्मणी के घर पहुँचे। घर के सामने ऊँट बाँध दिया. बुढ़िया आधी धोती पहने और आधी ओढ़े थी। वह गांव से आटा, दाल, घी वगैरह सामान माँग कर लाई और रसोई तैयार करने लगी। अतिथियों से उसने कहा-आप लोग स्नान कर आओ तब तक मैं भोजन तैयार किये देती हूँ।

स्नान करके वे चौके में भोजन करने बैठे। बुढ़िया रसोई बनाती जाती, परोसती जाती और बातें भी करती जाती थी। उसने बातचीत के सिलसिले में प्रश्न किया-बेटा, तुम्हें ब्राह्मण बने कितने दिन हो गये ?

उन्होंने कहा—माँ, ब्राह्मण तो जन्म से ही होते हैं।

बुढ़िया—नहीं, ब्राह्मण तो बनाये जाते हैं।

नवयुवक बुढ़िया की बातों से चक्कर में पड़ गये। उन्होंने फिर कहा-कहीं ऐसा भी होता है। बनाये से ब्राह्मण नहीं बनते। जन्म से ही होते हैं।

बुढ़िया—नहीं बेटा, अभी तुम्हें मालूम नहीं है। तुम्हारे माँ-बाप को यह बात मालूम होगी। देखो न, मैं भी ब्राह्मणी बनाई गई हूँ। पहले मैं मुसलमान थी और हसनिया पिंजारे की माँ थी। गांव वालों के कहने से मैं ब्राह्मणी बन गई और तभी से ब्राह्मणी हूँ। तुम अपने माँ-बाप से पूछोगे तो मालूम हो जाएगा।

इतना सुनते ही दोनों नौजवान ब्राह्मणों ने सोचा-अरे राम राम, हम भ्रष्ट हो गये ! कहाँ से इस गांव में आ फँसे । आगे जीमने का प्रश्न ही क्या था ! फौरन चुल्लू करके और ऊँट लेकर आखिर अपने गाँव में आ पहुँचे ।

उस समय उनके गांव में एक ब्रह्म भोज हो रहा था । वे सीधे वहाँ गये और पंचों से अपना रास्ते का सारा वृत्तान्त बतलाते हुए कहा-हमसे बड़ी गलती हो गई । हम अपवित्र हो गये है । पंच जो प्रायश्चित देना उचित समझें, दें । हम उसे स्वीकार करेंगे ।

वह पहले का जमाना था । आज तो जाति-पाँति की वैसी संकीर्णता रही नहीं है । पहले के लोग बड़े ही रूढिचुस्त थे । मगर रूढ़िचुस्त लोग जब फैसला करते थे तो कुछ समझ-बूझ कर किया करते थे । मालदार के उसी अपराध का प्रायश्चित कुछ और होता था तो गरीब को कुछ और ही भुगतना पड़ता था । गरीब का कचूमर निकल जाता था । इसका कारण यह था कि प्रायः मालदार लोग ही जाति में मुखिया या पंच होते थे और वे आपस में एक दूसरे का लिहाज किया करते थे ।

हाँ, तो उन नवयुवकों को गंगास्नान करने और कई बार गोमूत्र पीने का दड दिया गया । इसी से उनका छुटकारा हो गया । इतने से ही उनका गया हुआ ब्राह्मणत्व फिर लौट आयगा, ऐसा पंचों ने निर्णय कर दिया ।

नवयुवक बोले—हम न इधर के रहे, न उधर के रहे ।

भाइयो ! तो जैसे वे ब्राह्मण कहीं के न रहे, इसी प्रकार यह लोग न तो भोग ही भोग सके और न तपस्या ही कर सके । दोनों से ही वंचित रह गये ! अरे मानव, तुझे भोग नहीं मिले तो योग

का साधन तो कर। संयम और तप की आराधना करेगा तो भविष्य तो शोभन बन जाएगा।

धर्म का सेवन करने से ही आत्मा का उत्थान होता है। लेकिन कहा है:—

दया धर्म पावे तो कोई पुण्यवंत पावे,
जाने दया की बात सुहावे रे।
भारी कर्मा ने अनन्त संसारी,
थका नरक में खावे रे॥

दयाधर्म का पालन करने के लिए चित्त में निर्मलता होनी चाहिए, आर्द्रता चाहिए। कोमलता और सात्विकता चाहिए और यह विशेषताएँ उसी के चित्त में आती हैं जो पुण्यवान् हो! अतएव पुण्यशाली पुरुष ही दयाधर्म का पालन कर सकता है। उसी को दयाधर्म प्रिय लगता है। जिन्होंने पूर्वभव में अच्छे कर्म नहीं किये हैं, पुण्योपार्जन नहीं किया है, वह तो धर्म की बात भी नहीं सुनना चाहता। ऐसा जीव आगे चल कर नरक की भयावह यातनाएँ भोगे तो आश्चर्य ही क्या है!

भाइयो! उपदेश लगा था गजसुकुमालजी और शालिभद्रजी को। कितना उच्च कोटि का पुण्य था उनका! शालिभद्र की हवेली के चौथे मंजिल में पत्थरों की जगह पन्ने जड़े हुए थे। कहा है—

हीरा पन्ना में पग देइ चाले,
माणक कुण मंजूषा में घाले।
अमर दूजे ने भूत कमावे,
जिणे घर को पार कुण पावे॥

यह शालिभद्र का जिक्र है। उनके महल का यह हाल था कि फर्श को देख कर श्रेणिक जैसा मगध का बड़ा सम्राट भी चक्कर में पड़ गया और सोचने लगा कि–यह फर्श है या पानी है! आखिर उंगली डाल कर मालूम करना पड़ा! उनके घर में माणिक तो ऐसे बिखरे थे जैसे सड़क पर कंकर।

बकरी दूध दे तो कितना दे? गाय उससे अधिक और भैंस उससे भी अधिक दूध देती है। मगर जहाँ आकाश ही दूध देने लगे, वहाँ का क्या कहना है? किससे उसकी तुलना की जाय?

शालिभद्र सेठ के लिए आसमान से सारी उत्तमोत्तम चीजें आती थीं? जिनके यहाँ भूत कमाई करने वाले हों, उन्हें कमी किस बात की रह सकती है? उनके पिता ने साधु-दीक्षा लेकर तपस्या की थी। वह काल करके स्वर्ग में देवता हुए और उन्हीं के प्रसाद से शालिभद्रजी अनुपम और असाधारण दिव्य ऋद्धि का उपभोग करते हुए आनन्दपूर्वक दिन व्यतीत करने लगे।

कहो भाई, उनके घर की कैसी अद्वितीय रचना है? भोजन के समय उनके लिए सदैव नन्दन वन के ताजा फल हाजिर हो जाते थे। ऐसे ऋद्धिशाली थे शालिभद्र! और सुकुमार ऐसे कि कहते नहीं बनता। कभी राई-रत्ती भर तकलीफ नहीं देखी थी। फिर भी स्वल्प-सा कारण मिलते ही वैराग्य हो गया। इससे अधिक पुण्य और क्या हो सकता है?

उन्हें साधुपन अंगीकार करने की इच्छा कैसे हुई? यह वृत्तान्त भी मिलता है।

एक बार राजा श्रेणिक शालिभद्र को देखने आये तो माँ ने कहा–बेटा, तुम्हारे सिर के नाथ आए हैं। लालजी, नीचे उतर कर उनका स्वागत करो।

तब शालिभद्र सोचने लगे-अरे, मेरे सिर पर भी नाथ हैं ! आह मैंने पूर्ण पुण्य का आचरण नहीं किया; इसी कारण मेरे माथे भी कोई नाथ है !

फिर भी माता की आज्ञा थी नीचे उतरने की। सो वे राजा का स्वागत करने के लिए नीचे उतरे। देखते ही राजा विस्मित हो गया। ऐसा सौकुमार्य और ऐसा अद्भुत रूपलावण्य उसने कभी देखा नहीं था। यद्यपि स्वयं सम्राट् श्रेणिक अत्यधिक सुन्दर थे, मगर शालिभद्र के शरीर की रचना ही कुछ निराली थी। उन्हें देखते ही राजा ने गोद में ले लिया।

राजा का दुलार भी शालिभद्र को अत्याचार सा प्रतीत होने लगा। वह सोचने लगे-मैं किस फंदे में फँस गया ? राजा के शरीर का ताप भी उन्हें दुस्सह हो गया। शरीर पसीने से लथपथ हो गया। तब माता ने कहा-महाराज, इसे जाने की छुट्टी दीजिए। राजा भी शालिभद्र की परिस्थिति समझ गया। उसने शालिभद्र को जाने की अनुमति-दी और वह चौथी मंजिल पर जाकर पलंग पर लेट गये।

माता ने सम्राट से कहा—महाराज, आज पहला दिन है कि शालिभद्र नचे उतरा है। प्रतिदिन दर्शन देने के लिए मुझे ही ऊपर जाना पड़ता है।

सम्राट श्रेणिक तो यथोचित स्वागत्-सत्कार के बाद अपने महल को चल गये, मगर शालिभद्र के अन्तःकरण में एक नवीन भावना जगा गये। वह इस बात को भूल न सके कि मेरे माथे पर भी नाथ है, मैं स्वयं नाथ नहीं हूँ। मैं स्वाधीन नहीं, पराधीन हूँ। बस, यही विचार उनके मस्तिष्क में चक्कर काटता रहा और अन्त में उसने विरक्ति जागृत कर दी।

शालिभद्र विचार की दूसरी दुनिया में विचरण करने लगे। बत्तीसों स्त्रियाँ हाथ जोड़े खड़ी हैं, मगर वे किसी से बात ही नहीं करते। उन्होंने हताश होकर कहा-यदि कोई भूल-चूक और गलती हुई है तो क्षमा कीजिए।

शालिभद्र अन्त मे थोड़ा बोले क्षमा क्या करूँ ? एक-एक जनी रोज सवाल करो और जवाब लो।

ऐसा ही हुआ। एक स्त्री रात्रि को आई तो उससे कहा-मै मुनिव्रत धारण करूँगा। मैं अनाथ-गुलाम होकर रहना पसंद नहीं करता। मेरी तपस्या में कमी रह गई है, उसकी पूर्त्ति करूँगा। इस प्रकार उससे रात-भर वैराग्य की बातें करते रहे।

दूसरी रात्रि में दूसरी पत्नी पहुंची। उसे भी यही कहा और समझाया। वह भी समझ गई कि राजा का आना हमारे संसार-सुख पर पत्थर पड़ना सिद्ध हुआ। न वह आते, न इनको वैराग्य अभी आता। वह अपनी सौतों से कहती है—

भायली, सासूजी का जाया, ई तो वैराग्य में छाया,
म्हासूं संजम की करे बात।
भायली किस विध राखूं प्राणनाथ॥
भायली, कागद होय तो वांचलूं, कर्म न वाचोजाय।
भायली कांई कांई अणी कर्म में,
ज्ञानी बिन कुण फरमाय॥१॥

हे सखी ! कागज हो तो पढ़ा जा सकता है, मगर कर्म कैसे पढ़े जाएँ ? कब कौन-सा कर्म उदय में आने वाला है और क्या--

कैसा फल देने वाला है, यह बात ज्ञानी के सिवाय और कौन बतला सकता है?

सखी ! वे रोज एक-एक जनी से बातें करते हैं। इस प्रकार बत्तीस दिन पूरे हो जाएँगे और अपन सब ताकती रह जाएँगी।

भायली! राज गयां राजा झुरे, धन गयां धनवंत,
भायली! पाणी गयो खेतीडो झूरे, ज्यो कामण झूरे गया कंत।

हे सखी ! जब राजा के कब्जे में से उसका राज्य चला जाता है तो वह कैसा झूरता है–विलाप करता है? झालावाड़ के राजा को गद्दी से उतार दिया तो वह कितना दुःखी हुआ था? इसी तरह जब किसी धनवान् का धन चला जाता है तो उसे दुःख होता है। प्रत्यक्ष देख लो, शरणार्थियों के बालक दूध माँगते हैं और कोई उन्हें दूध पिलाते हैं तो शरणार्थी यह दृश्य देखकर रोते हैं कि आज हमारी क्या दशा हो गई! हे सखी, बत्तीस दिन होते ही ये चले जाएँगे और हमारी भी ऐसी ही दशा हो जाएगी। कौन जानता था कि हमारी ऐसी दशा होने वाली है।

भाइयो, शालिभद्र ने कभी तकलीफ की बात सुनी भी नहीं थी। नवकारसी का भी प्रत्याख्यान नहीं किया था। फिर भी एकाएक साधु बनने का संकल्प कर लिया। कितना जबर्दस्त पुण्य !

मँगते के मन में आता है कि मैं भी बादाम और केसर डाली हुई खीर खाऊँ, लेकिन कौन उसे खिलाता है? इसी प्रकार पुण्य-हीन चाहे कि मैं भी मोक्ष प्राप्त कर लूँ तो उसे मोक्ष कैसे मिल सकता है? जबर्दस्त पुण्य का उदय हो तो ही ईश्वर का नाम निकलता है। नहीं तो मुँह में ताला हो पड़ जाता है।

भाइयो ! जो भी धर्म क्रिया बन सके, वही करो। जिस धर्म-क्रिया को करने की शक्ति न हो उसे करने की भावना रक्खो, उसके प्रति श्रद्धा रक्खो। ऐसा करोगे तो भी पुण्यवान् की श्रेणी में आ जाओगे। अगर धर्म ध्यान नहीं बनता है और उसके प्रति प्रीतिभाव भी नहीं है तो समझ लो कि पुण्य का उदय नहीं है।

लन्दन में एक सभा थी। उसके २२ सदस्य थे। वे महावीर स्वामी पर पूर्ण श्रद्धा रखते थे। उस सभा का नाम था वर्धमान सभा। उसके पाँच नियम थे—(१) किसी जीवधारी को न सताना (२) झूठ नहीं बोलना (३) चोरी नहीं करना (४) परस्त्रीगमन न करना और (५) परिग्रह की मर्यादा करना। वे इन पाँच नियमों का पालन करते थे। उनमें से एक ने दान देने का ऊँचा व्रत धारण किया। वहाँ कोई साधु संत तो था नहीं, अतएव एक बहुत शरीफ और लायक गरीब को ही वह प्रति रविवार अपने घर बुला कर जिमाता और एक पौंड नकद देता था।

कहिए, कितनी बड़ी बात है ! जहाँ पुण्योदय होता है वहीं इस प्रकार की सद्बुद्धि और सद्भावना उत्पन्न हो सकती है। पुण्य के बिना कुछ भी नही हो सकता। साधु के चरणों में इन्द्र भी नमस्कार करते हैं। अतएव अतिशय पुण्यशाली ही स धुपद अंगीकार करते हैं, वही मुक्ति प्राप्त कर सकते हैं। मुक्ति में अनन्त और अवक्तव्य सुख है। उस सुख का वर्णन नहीं हो सकता। उसे प्रकट करने के लिए शब्द नहीं है। तर्क के द्वारा उसका निर्णय नहीं हो सकता। मति का वहाँ प्रवेश नहीं है उसे तो वही जान सकता है जो उसका उपभोग करता है।

भाइयो ! पुण्यवान को ही लौकिक और लोकोत्तर सुख की सामग्री प्राप्त होती है। अतएव पुण्योपार्जन करने के लिए धर्मक्रिया करो। इसी से परलोक में और इस लोक में भी आनन्द ही आनंद होगा।

ब्यावर (अजमेर)
२०-१०-४७

२

निरंजन पद

स्तुतिः—
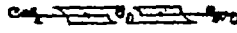
श्च्योतन्मदाविलविलोलकपोलमूल-
मत्तभ्रमद्भ्रमरनादविवृद्धकोपम् ।
ऐरावताभमिभमुद्धतमापतन्तं,
दृष्ट्वा भयं भवति नो भवदाश्रितानाम् ॥

भगवान् ऋषभदेव की स्तुति करते हुए आचार्य महाराज फर्माते हैं-हे सर्वज्ञ, सर्वदर्शी, अनन्तशक्तिमान्, पुरुषोत्तम ऋषभदेव भगवान् ! कहाँ तक आपकी स्तुति की जाय ? हे प्रभो ! कहाँ तक आपके गुण गाये जाएँ ?

हे महा प्रभो ! कोई पुरुष प्रयोजनवशात् जंगल में जा रहा है। उसे रास्ते में एक पागल हाथी मिल गया। उसके गंडस्थलों से से मद झर रहा है। मद की सुगंध से आकर्षित हुए भ्रमर उस पर

टूट-टूट कर कर पड़ रहे हैं। इस कारण वह हाथी अतिशय क्रोधित हो उठा है। वह पहले ही मतवाला था और ऊपर से क्रुद्ध हो गया! गिलोय और नीम चढ़ी, की कहावत चरितार्थ हो रही है। हाथी भी मामूली नहीं। उसका डीलडौल बहुत बड़ा है। इन्द्र के ऐरावत हाथी के समान विशाल है। सुनसान जंगल में ऐसे यमराज के सहोदर के समान हाथी को सामने आते देख किसका हृदय न काँप उठेगा? किसके छक्के नहीं छूट जाएँगे? किन्तु दीनानाथ! आपके परमपावन नाम की महिमा अपार है, अगाध है। जो आपका शरणागत है, जिसके चित्त में अपरिमित्त शक्तिसे परिपूर्ण आपका नाम-स्मरण हो रहा है, उसे किंचित् भी भय नहीं होता। जो 'ॐ उसभ, ॐ उसभ' का जाप करता है हाथी उसका कुछ भी नहीं बिगाड़ सकता। पालतू कुत्ते की तरह सीधा होकर वह चला जाता है।

भगवान् श्रीऋषभदेव के नाम में ऐसा चमत्कार है। ऐसा अप्रतिम प्रभाव है। जो सच्चे अन्तःकरण से उन महाप्रभु के नाम का स्मरण करता है, उसके समस्त संकट छूमन्तर हो जाते हैं। ऐसे भगवान् ऋषभदेव को हमारा बार-बार नमस्कार हो।

भगवान् ऋषभदेव इस अवसर्पिणी काल में प्रथम तीर्थंकर हुए हैं। उन्होंने संसार के जीवों का असाधारण हित साधन किया। सर्वप्रथम लोकनीति की व्यवस्था की। वह युग परिवर्त्तन का काल था। उनके समय तक की प्रजा कल्पवृक्षों के सहारे अपनी जीविका का निर्वाह करती थी। मगर भगवान् के समय वह व्यवस्था पर्याप्त न रही। जीवननिर्वाह का दूसरा ढंग सोचना आवश्यक हो गया उस युग में भगवान् ही सर्वश्रेष्ठ ज्ञानी एवं विचारक थे। अतएव

पर ही आ पड़ा। भगवान् ने असि, मषि, कृषि तथा भांति-भांति की कलाओं की शिक्षा चालु की। इससे एक विकट संकट टल गया और लोग मांसभक्षी होने से बचे।

सांसारिक व्यवस्था कायम कर देने के पश्चात् भी यह आवश्यक था कि जनता को धर्म के वास्तविक सिद्धान्त समझाए जाएँ। क्योंकि धर्म के बिना मनुष्य के और पशु के जीवन में कोई पार्थक्य नहीं रहता। धर्म के उच्चतर आदर्श ही मनुष्य के जीवन में सत्प्रेरणाएँ प्रदान करते हैं और उन्हीं के आधार पर मानव-समाज टिका हुआ है। धर्म के अभाव में लोकोत्तर कल्याण की बात दूर रही, लौकिक कल्याण भी नहीं होता! शान्ति की स्थापना करने में एक मात्र धर्म ही समर्थ है। धर्म का जहाँ अभाव है, वहाँ अशान्ति और दुःख ही दुःख समझना चाहिए।

इस प्रकार विचार करके भगवान् ने धर्मतत्त्व के प्रचार के लिए त्यागीजीवन अंगीकार किया। लम्बे समय की कठिन साधना के अनन्तर उन्हे परिपूर्ण ज्ञान की प्राप्ति हुई। स्वयं ने धर्म का पूर्ण मर्म जब समझ लिया तो दुनिया में उसका प्रचार किया।

भगवान का उपदेश देश-काल और पात्र के अनुसार नाना रूप धारण करके और कहीं-कहीं विकृत होकर भी आज विभिन्न देशों में फैला है। नाना देशों और जातियों के लोग अनेक नामों से भगवान् आदिनाथ की उपासना करते हैं।

भगवान् अपनी साधना के परिणाम स्वरूप अन्त में निरंजन पद को प्राप्त हुए। निरंजन पद कहो या मुक्ति कहो, एक ही बात है। वहाँ अनिर्वचनीय, अचिन्त्य, अनन्त और असीम आनंद ही आनन्द की अनुभूति है। निरंजन पद प्राप्त करने वाली आत्मा

की क्या स्थिति होती है, इस संबंध में श्री मद् आचारांग सूत्र में बहुत ही मार्मिक वर्णन मिलता है—

'से न दीहे, न हस्से, न वट्टे, न तंसे, न परिमंडले,
न किन्हे, न नीले न लोहिए, न हलिद्दे, न सुक्किल्ले,
न सुरहि गंधे न दुरहि गंधे,
न तित्ते न कडुए, न कसाए, न अंबिले, न महुरे,
न कक्खडे, न मउए, न गरुए, न लहुए, न सीए,
न उण्हे, न णिद्धे, न लुक्खे;
न काऊ, न रुहे, न संगे, न इत्थी, न पुरिसे, न अन्नहा।
परिण्णे, सण्णे, उवमा ण विज्जति; अरुवी सत्ता,
अपयस्स पयं नत्थि। से न सद्दे, न रूवे, न गंधे,
न रसे, न फासे, इच्चेव त्ति वेमि।

—आचारांग अ. ५, उ. ६,

समस्त कर्मों और कर्म जनित विभावों से मुक्त आत्मा इस लोक से शरीर त्याग कर जैसे ही मोक्ष में जाता है वहाँ विराजमान हो जाता है। शुद्ध आत्मा में किसी भी प्रकार की औपाधिक परिणति, शेष नहीं रहती। उसमें न लम्बाई होती है, न छोटापन ही होता है। वह गोलाकार भी नहीं, त्रिकोण भी नहीं, थाली के समान गोलाई वाला भी नहीं होता। अर्थात् उस मुक्तात्मा में किसी प्रकार का आकार नहीं रहता। आकार पुद्गल का पर्याय है और पुद्गल के संसर्ग से सर्वथा रहित आत्मा में कोई भी आकार संभव नहीं। अतएव उसका निराकार शब्द से उल्लेख किया जाता है।

मुक्तात्मा अरूपी होता है, उसमें न काला रंग है, न नीला, न लाल, न पीला और न श्वेत रंग ही है।

कहिए परमात्मा का कैसा रंग है? कोई भी रंग नहीं है। कोई-कोई लोग कहते है-आज हमें परमात्मा मिले। मगर उनसे पूछा जाय कि कैसा रंग था उनका? भाई, जब आत्मा स्वभाव से ही अरूपी है तो परमात्मा में रंग कहाँ से आया?

इसी प्रकार परमात्मा में न सुगंध है और न दुर्गंध है। उसमें न तीखा रस है, न कटुक है, न कसैला है, न खट्टा है और न मीठा है। वह सब प्रकार से स्पर्शों से भी रहित है। न कर्कश है, न कोमल है, न गुरु है, न लघु है, न शीत है, न उष्ण है, न चिकना है और न रूखा है।

यह सब गुण शरीर में, जो कि पौद्गलिक है, पाये जाते हैं। परमात्मा शरीर से अतीत है, अतएव उसमें इनमें से किसी भी गुण का अस्तित्व नहीं है। यही नहीं मुक्तात्मा जन्म-मरण के चक्र से सदा के लिए छुटकारा पा चुका है, अतएव भविष्य में भी कभी वह सशरीर होने वाला नहीं। सब प्रकार के बाह्य ससर्ग से रहित है-निखालिस चेतनामय है।

मुक्तात्मा न स्त्री है, न पुरुष है और न नपुंसक है। यह सब कर्मोदय जनित पर्याय है कर्म का निर्मूल नाश हो जाने के कारण वह इन पर्यायों से अतीत है।

प्रश्न हो सकता है वह रूप, रस, गंध, स्पर्श, वेद, जन्म, मरण, काय आदि सबसे रहित हैं तो उनका स्वरूप क्या है, इस प्रश्न के उत्तर में कहा गया है कि वह ज्ञाता है, सम्यग् ज्ञाता है। उनके लिए कोई उपमा ही नहीं है। किसी की समानता बतलाकर

मुक्तात्मा का वास्तविक स्वरूप नहीं दिखलाया जा सकता। वह समस्त कर्मोदय जनित अवस्थाओं से रहित हैं, अतएव उनके स्वरूप को व्यक्त करने के लिए कोई शब्द नहीं हैं।

लोकोक्ति है-जावे सो आवे नहीं और आवे सो जावे नहीं।' नमक की डली के बीच में छेद करके और उसमें डोरा डालकर समुद्र की थाह लेने के लिये डाला जाय तो क्या वह डली थाह लेकर वापिस आएगी? कभी नहीं। इसी प्रकार मोक्ष में गये बाद जीव वापिस नहीं आता। वहाँ की रचना के संबंध में कहा है:—

एक मांही अनेक राजे, अनेक माहीं एकक।
एक अनेकन की नहीं संख्या नमोसिद्ध निरंजन ॥

वहाँ एक में अनेक और अनेक में एक का समावेश है। एक अनेक की कोई संख्या निर्धारित नहीं है।

वास्तव में परमात्मा के स्वरूप को पूरी तरह व्यक्त करने के लिए हमारे पास कोई शब्द नहीं हैं। श्रीमद् आचारांग में ही इसी सूत्र में कहा है—

'सव्वे सरा नियट्टंती, तक्का तत्थ न विज्जइ,
मई तत्थ न गाहिया, ओए अप्पइट्ठाणस्स खेयन्ने।

सिद्ध पुरुष का स्वरूप प्रकट करने में सभी शब्द निवृत्त हो जाते हैं। किसी भी शब्द में इतनी शक्ति नहीं कि वह उस स्वरूप को प्रकट कर सके। तर्क वितर्क को वहाँ कोई अवकाश नहीं है। बुद्धि का वहाँ प्रवेश नहीं हो सकता। वह सिद्ध पुरुष ओज स्वरूप है और समग्र लोक उसके ज्ञान में झलकता है। वह चित्-स्वरूप है। इसके सिवाय और क्या कहा जाय? बत्तीसों सूत्र और चारों वेद

उसका वर्णन नहीं कर सकते । वेद भी 'नेति नेति' कहकर हार मान जाते हैं । ठीक ही कहा है—

क्या क्या बताऊँ खोजन जाऊँ,
तो तामें समाऊँ ॥

अगर मैं उसकी खोज करने चलूँ तो उसी में समा जाऊँ । यह आत्मा कब तक कहलाती है—

अब है क्या यह क्या बताऊँ,
खोजन जाऊँ तो तामें समाऊँ ।
आत्मा कर्मों से कहलावे,
वहां तक ही लीला रचावे ।
सुध होने से फिर क्या दिखाऊँ ॥१॥

यह आत्मा आत्मा कब तक कहलाती है ? जब तक इसके साथ कर्मों का संबंध है । जब तक कर्मों का सबंध है, तब तक ही यह सब सांसारिक लीला है । शरीर, आँख, कान, नाक, हाथ, पैर आदि सभी अंगोपांग कर्म की बदौलत ही इसे मिले है । मकान, दुकान, स्त्री, पुत्र पौत्र आदि सब कर्म को लीला है । जब तक कर्म हैं तभी तक यह सब रचना है । इसी से आत्मा को लीलाधर-नाटकिया भी कहते हैं । यह कितने ही खेल करता है । जब कर्मों का सर्वथा क्षय हो जाता है और आत्मा अपने असली रूप में प्रकट हो जाता है तो यह सब लीलाएँ समाप्त हो जाती हैं । फिर तो इसका ऐसा अद्भुत स्वरूप होता है कि कहते नहीं बनता ।

है बरफ वहाँ तक न्यारा, भया नीर नीर में सारा ।
तब कैसे खोज लगाऊँ ॥२॥

देखो, यह पानी है और यह बर्फ है। जब तक बर्फ है, तब तक उसे अलग दिखलाया जा सकता है। मगर जब बर्फ को पानी में डाल दिया और उसने अपने पानी के स्वरूप को प्राप्त करलिया, फिर क्या उसे पृथक दिखलाया जा सकता है ?

गंगा, सिन्धु, यमुना आदि अनेक नदियाँ हैं उन सबका अपना-अपना पृथक अस्तित्व है। सबको अलग-अलग नाम है। मगर यह पृथक सत्ता कब तक है ? जब तक वे सागर में नहीं मिल जाती। जब वह समुद्र में मिल गई तो कैसे कहा जाय कि यह गंगा है और यह सिन्धु है ? समुद्र में मिलने से पहले-पहले ही उनके यह अलग अलग नाम हैं। जब सागर में मिल गई तो सब नाम समाप्त हो गये। इसी प्रकार जब तक आत्मा कर्मों से लिप्त है और कर्मोदय जनित विविध अवस्थाओं को धारण किये है, तब तक उसके नाना नाम होते है। कर्म क्षय होने पर वह सब नाम नहीं रह जाते। सब परमज्योतिर्मय स्वरूप को प्राप्त हो जाती है। उनके पृथक-पृथक नाम समाप्त हो जाते हैं।

भगवान् ऋषभदेव इस तन–मन्दिर को सदा के लिए त्याग कर चले गये। किसी समय वे भी शरीर से युक्त थे। मगर उन्होंने तपश्चर्या की और समस्त कर्मों का समूल विनाश कर डाला। तब वे निरंजन पद को प्राप्त हुए। अब हम उन्हें बुलाना चाहे तो क्या बुला सकते है ? नहीं वह न तो अनन्त सुखों को छोड़ कर यहाँ आते हैं और न आने का कोई कारण ही है।

जन्म कर्मोदय से होता है और मृत्यु आयुकर्म की समाप्ति से होती है। सिद्ध भगवंत कर्म से सर्वथा मुक्त हैं। अतएव उनका पुनः संसार में अवतरण नहीं होता।

कोई राजियावास जैसे गाँवड़े से कलकत्ते में गोद चला जाय और राजियावास वाले उसे फिर अपने यहाँ रहने को बुलावें, तो क्या वह कलकत्ते में मोटरों की सैर करने वाला गाँवड़े में आना पसंद करेगा ? कदापि नहीं। यह संसार तो मँगतों का घर है, अनाथालय से भी गया-बीता है। अनन्त मौक्तिक सुखों को त्याग कर यहाँ के तुच्छ, नीरस और दुःखों से परिपूर्ण भौतिक सुखों को कौन पसंद करेगा ?

दिल्ली का जिक्र है। हमने वहाँ चातुर्मास किया था। किसी गाँव का लड़का दिल्ली में गोद चला गया। उसका भाई भी वहाँ आया। जब उसका भाई दर्शन करने आया तो वह गोद वाला भी कुछ देर से-पीछे से आया। सहज ही मैंने पूछ लिया-आगे-पीछे कैसे आये ? तब उसने कहा-मैंने इससे कहा कि या तो तुम आगे चलो या पीछे आना; क्योंकि इनके साथ आने में मुझे शर्म मालूम हुई।

भाइयो ! दोनों के रहन-सहन में बहुत अन्तर पड़ गया था। एक रईस की तरह तो दूसरा सईस की तरह रहता था।

पिता और पुत्र अलग-अलग हो जाएँ। पिता चार हजार का और पुत्र चार लाख का आसामी हो जाय तो फिर देखो लड़के की अकड़ ! वह बाप को टके सेर भी नहीं पूछता। तात्पर्य यह है कि जो ऊँचे पद पर पहुँच जाता है, वह नीचे पद पर आना नहीं चाहता। इसी प्रकार मुक्तात्मा संसार-अवस्था में न आना चाहते हैं और न उनके आने का कोई कारण ही शेष रह जाता है। आवागमन का कारण जब नष्ट हो गया तो आवागमन भी नहीं रहा।

तो जो निरंजन निराकार परमपद पर प्रतिष्ठित हो चुके हैं, उनका क्या हाल सुनाया जाय ? वेद कहते हैं-हमारे पास कोई शब्द नहीं।

एक भाई-वहिन थे। वहिन की शादी हो गई। जिस घर में शादी हुई, उसमें ५-७ लाख की सम्पत्ति थी। उधर अभाग्यवश भाई के पास जो सम्पत्ति थी, वह समाप्त हो गई। मकान भी गिरवी रख दिया गया। बड़ी नादारी आ गई। यह हालत देख कर उसने अपने बच्चों को अपनी सुसराल भेज दिया और स्वयं वहिनोई के पास रह कर कुछ काम-धंधा करने का विचार किया। वह वहिन के गाँव में पहुँचा। उस समय वहिनोईजी दुकान पर थे। वह सीधा दुकान गया पर उसने आँख उठा कर भी इसकी ओर नहीं देखा।

वेचारा निराश होकर फिर हवेली गया। वहाँ पहुँचा तो देखता है कि वहिन सोने के पालने में झूल रही है। इतने ही में शहर की कुछ सेठानियाँ आ गईं तो वह झट नीचे उतर कर गादी पर बैठ गई और उनसे घुल-घुल कर बातें करने लगी।

उसी समय इसने समीप पहुंच कर कहा--वहिन, मजे में हो ?

मगर वहिनजी ने सामने झांका भी नहीं !

दूसरी वार कुछ ऊँचे स्वर से कहा। मगर फिर भी वहिनजी ने उसे कोई उत्तर नहीं दिया। खेमा नौकर को आवाज देकर कहा- इसे लेजा कर वरामदे में बिठला दो।

जहाँ गाय-भैंस बाँधी जाती थी, उसी जगह भाई साहब को विठला दिया गया। भाई का हृदय अत्यन्त क्षुब्ध हो उठा। वह

अतिशय दुःख के साथ सोचने लगा—हाय, आज मेरी यह दुर्गति हो रही है ? मेरी सहोदरा बहिन भी मेरी ओर नजर उठाकर नहीं देखती ! पशुओं के बराबर मेरी इज्जत है ! संसार कैसा स्वार्थमय है ! यहां स्वार्थ की पूजा है। स्वार्थ का ही सत्कार है। यों कोई किसी को नहीं चाहता !

भाइयो ! बड़े घरों में रोटियाँ भी दो प्रकार की बनती है। सेठ-सेठानी के लिए बढिया पतले फुलके और नौकर-चाकरो के लिए मोटे मोटे रोट !

भाई के लिए भी नौकर चार रोट और पांसी का शाक लेकर आया। उसे देखकर भाई ने अपना कर्म ठोका।

उधर सेठानियों ने पूछा—यह कौन है जो आपको बहिन कह कर बुलाता था। ? बहिन ने कहा—मेरे मायके में चूल्हा फूंकने के लिए एक नौकर था। वही किसी काम से यहां आया है।

बहिन के यह शब्द भाई के कानों में भी पड़ गये। पर अब वह सारी परिस्थिति समझ चुका था, अतएव उसे कुछ बुरा न लगा। उसने चार रोट देखकर भी यही सोचा—कुछ भी हो, अन्न-देव सामने आये हैं तो रुष्ट होना उचित नहीं। अन्न तो अन्न ही है। अन्न को प्राण कहा गया है। वह बढ़िया हो या घटिया हो, कभी उसका निरादर नहीं करना चाहिए।

इस प्रकार विचार कर उसने रोटियाँ खा ली। इसके बाद एक भी पल उसने वहाँ रहना उचित न समझा। नौकर से कहा—'बहिनजी से कह देना, मजे में रहे।' इतना कहकर वह घर से बाहर हो गया। उस समय उसके मन में तूफान-सा उठ रहा था।

स्वार्थी संसार की दशा पर उसका अन्तःकरण क्षुब्ध था। उसने सोचा—संकट के समय नातेदारों के यहां पैर भी नहीं रखना चाहिए।

सुधरे वक्त के सब कोई साथी,
बिगड़ी के नहीं साथी हैं।
बिगड़े वक्त में घर की नारी,
वह भी छेह दिखाती है॥

यह संसार की दशा का सच्चा चित्र है। जब भाग्य अनुकूल होता है, परिस्थितियां अनुकूल होती हैं और धन-धान्य की कमी नहीं होती और भाग्य का सितारा चमकता होता है तो सभी कहते हैं—'आइए साहब पधारिए। बड़ी कृपा की जो दर्शन दिये।' जो सगे-संबंधी हैं वे उस पर गौरव करते हैं और दूर के रिश्तेदार हो तो भी अपने को सन्निकट का संबंधी बतलाते हैं। यहां तक की रिश्तेदारों के पड़ौसी भी रिश्तेदार बनते हैं! भाग्यवान् की नजर अपने ऊपर पड़ जाय तो भी अपने आपको भाग्यशाली मानते हैं। सब जगह उसका सत्कार होता है।

किन्तु जब भाग्य पलटा खाता है और धन क्षीण हो जाता है तो वही करोड़ों-लाखों का आदमी कौड़ी कीमत का भी नहीं रहता। दुखी हालत में कोई उसकी ओर दृष्टि तक नहीं डालता। वह जहां पहुँच जाता है, उपेक्षा और तिरस्कार पाता है।

आखिर यह सब क्या है? धनी था तब वही था और निर्धन हो गया तो भी वही है। उसके मनुष्यत्व में कुछ अन्तर नहीं पड़ गया है। फिर क्यों लोगों की दृष्टि में इतना परिवर्तन हो जाता है? इससे तो यही प्रकट होता है कि वास्तव में यह अधो

दुनिया मनुष्य की कद्र नहीं करती, मानवीय सद्‌गुणों का मूल्य नहीं जानती इसे एक ही वस्तु का मूल्य मालूम है और वह है धन! इस प्रकार संसार जड़ का पुजारी है और स्वार्थ का भक्त है। जब देखता है कि इनसे कोई स्वार्थ सिद्ध न होगा तो एकदम आंखे बदल लेता है। ऐसे स्वार्थमय संसार पर जिनका अनुराग है उन्हे क्या कहा जाय!

बहिन के घर से निकल कर वह निर्धन भाई किसी बड़े नगर में जा पहुँचा। उसने सोचा–बड़े शहर में कहीं न कहीं, कुछ न कुछ काम तो मिल ही जाएगा। शहर में सब तरह के धंधे चलते हैं।

शहर में पहुँच कर वह बाजार में घूमने लगा। पास में पूंजी नहीं थी। भुने चने खाकर दिन व्यतीत करने लगा और कामधधे की खोज करने लगा। एक दिन वह एक बड़े साहूकार की दुकान के सामने पहुँचा। वहाँ ड्योढ़ी पर बहुत–से नौकर--चाकर बैठे थे। यह भी उनके पास जा पहुँचा। बातचीत के सिलसिले में पता लगा कि नौकरों में से एक उसी के गाँव का रहने वाला है। इस प्रकार एक गांव के एक से दो हुए। उसने पूछा- भाई, यहां कैसे आना हुआ?

वह बोला--बस, इस पेट के लिए ही दुनिया मारी--मारी फिरती है। मैं भी इसी का मारा आ पहुंचा हूँ।

उसने कहा- ठीक है, यहाँ आ जाया करो।

बेचारा काम की तलाश में घूमता और कभी--कभी अपने गांव वाले के पास आ बैठता। वह वहां के सब लोगों से धीरे--धीरे परिचित हो गया।

उन्हीं दिनों सेठ का पानी पिलाने वाला नौकर छूट गया। सेठ ने दूसरे नौकर से कोई अच्छा पानी पिलाने वाला लाने को कहा। उसने इसे बतला दिया और कहा--यह कई दिनों से काम की खोज में है। मगर सेठ ने कहा-रख तो लें मगर खातिरी क्या ?

नौकर ने कहा-खातिरी की आवश्यकता भी क्या है ? केवल लोटा और गिलास ही तो इसे सौंपा जायगा। थैलियां तो सँभालनी नहीं हैं।

आश्वस्त होकर सेठ ने कहा-अच्छा, वेतन क्या लोगे भाई ?

उसने कहा-रोटी-कपड़ा के सिवाय जो आप देंगे, वही ले लूँगा।

अब वह सेठ और सेठ के कर्मचारियों को पानी पिलाने लगा। वह बड़ा योग्य और समझदार तो था ही; मौका पाने पर दूसरों का काम भी कर दिया करता था। बच्चों को भी खिला लेता था। आवश्यकता होती तो गद्दी में झाड़ू भी लगा देता। अभिप्राय यह कि वह दिलोजान से काम करता था और कभी किसी काम से बचने का प्रयत्न नहीं करता था। जिसे कर्त्तव्यनिष्ठा कहते हैं, वह उसकी रग-रग में व्याप्त थी।

बड़ा कौन ? चाम बड़ा या काम ? दुनिया को काम प्यारा है। काम लगन के साथ करने के कारण वह सबका प्यारा हो गया।

एक दिन की बात है कि मुनीमजी के घर से उन्हें भोजन के लिए बुलावा आया। मगर हिसाब का मिलान नहीं हो रहा था। मुनीमजी बहुत देर से पच रहे थे और इसी कारण वे समय पर घर नहीं गये थे। मुनीमजी ने कहा-जरा देर से आऊँगा।

देर काफी हो गई तो दुबारा बुलावा आ गया। तब भी उन्होंने वही उत्तर दिया-कुछ देर बाद आऊँगा।

पानी वाला उस समय वहीं था। उसने कहा--गुस्ताखी माफ हो आपका हिसाब मिले तो कैसे मिले। इस जगह यह भूल जो रह गई है इसे सुधारिए, हिसाब दुरुस्त हो जाएगा।

मुनीम -तू हिसाब भी जानता है क्या ?

नौकर--जी हां, जानता हूँ।

मुनीम--अच्छा, इसे जमा देखूँ। तब तक मैं भोजन कर आता हूँ।

मुनीमजी भोजन करने चले गये और इधर इसने हिसाब ही नहीं जमा दिया, चढ़ा हुआ सारा काम भी पूरा निबटा दिया। मुनीम साहब आए और जो बही-खाते देखे तो बहुत प्रसन्न हुए। सेठजी के आने पर मुनीम साहब ने उसकी उनके सामने भूरि--भूरि प्रशंसा की। उसका वेतन बढ़ा दिया गया।

मनुष्य अगर हाथ का सच्चा और लंगोटी का पक्का हो तो तरक्की करते देर नहीं लगती। वह जहाँ भी जाएगा, प्रतिष्ठा प्राप्त कर ही लेगा।

अब धीरे-धीरे वह इतना विश्वास पात्र समझा जाने लगा कि उसके हाथ से हजारों रुपये इधर के उधर होने लगे। पहले उसे आठ आने, फिर एक रुपया और थोड़े ही दिन बाद दो रुपये प्रति-दिन के हिसाब से उसे वेतन मिलने लगा। धीरे-धीरे वह प्रधान मुनीम के अधीन काम करने लगा। साथ ही उसने अपना निजी

लेन देन आरंभ कर दिया। यों उसने दो लाख रुपया उपार्जन कर लिया।

उसका भाग्य ऐसा जागा कि उसने अपनी प्रामाणिकता और बुद्धि कुशलता से पन्द्रह-बीस लाख रुपया कमा लिया।

इतनी कमाई हो जाने के बाद उसने सोचा-अब अपने देश चलना चाहिए, क्यों कि वहीं सारा कुटुम्ब, परिवार और जानने वाले लोग हैं। यह सोचकर उसने सेठ के सामने अपना विचार कहा। सेठ ने प्रसन्नता पूर्वक एक लाख रुपया इनाम देकर जाने की अनुमति दे दी। सेठ से लेकर छोटे से छोटे नौकर तक उसे चाहते थे। वह भी सभी के साथ भद्रतापूर्ण व्यवहार करता था।

भाइयो! कुलीनता की रक्षा करना बहुत बड़ी बात है। जिसे अपने कुल की मर्यादा का भान है, वह सदैव सद्-व्यवहार करता है। ऐसा आदमी अगर लम्पट लोगों के बीच रहता है तो उन्हें भी सुधार लेता है। शत्रुओं को भी मित्र बना लेता है।

अपनी उक्त विशेषताओं के कारण वह पच्चीस लाख की सम्पत्ति लेकर अपने घर लौटा। जिसका देना था, पाई-पाई चुकता किया। फिर मुनीम-गुमाश्ता रखकर व्यापार आरम्भ कर दिया। धनाधन दुकानें चलने लगीं। पत्नी और बच्चों को बुला लिया।

उसके पूर्वजों ने जितनी ख्याति प्राप्त की थी, उससे भी अधिक ख्याति उसने प्राप्त की। उसने विचार किया मैं आर्थिक दृष्टि से सम्पन्न हो गया हूँ, परन्तु धार्मिक दृष्टि से अब भी दरिद्र ही हूँ। मेरे पूर्वज धर्मक्रिया करते थे, परन्तु मैं उस ओर अभी तक उपेक्षा-युक्त रहा हूँ। अब मुझे भी धर्मक्रिया करनी चाहिए। यह सोचकर दो सामायिक करने की प्रतिज्ञा कर ली।

इस प्रकार लौकिक और लोकोत्तर कृत्यों का यथावत् निर्वाह करता हुआ वह आनन्द पूर्वक समय व्यतीत करने लगा। धीरे-धीरे उसके पास पचास लाख की सम्पत्ति हो गई। वह बड़े-बड़े धनाढ्यों में गिना जाने लगा।

उसकी बहिन को भी पता चल गया था कि भाई अब तरावट में है। अतएव जब उसके बेटे का विवाह निश्चित हो गया तो उसकी ओर से विवाह में सम्मिलित होने का निमंत्रण आया। निमंत्रण पत्र में लिखा था—

वीरा! रिमझिम होई आइजो;
भाभी ने साथे लाइजो ॥

भाई ने निमंत्रण पाकर विचार किया-जो हुआ सो हुआ, पर अपने कुल की मर्यादा की रक्षा तो करना ही चाहिए। अतएव उसने पन्द्रह-बीस हजार का जेवर बनवाया। और पहरावनी का सारा सामान तैयार करवाया। नियत समय पर धूमधाम के साथ बहिन के यहाँ पहुँचा तो बहिन फूली न समाई-भाई साहब पधारे हैं। वीरा सा पधार गया!

एक बड़ी हवेली में भाई साहब को उतार दिया गया। एक समय था कि बहिन ने रोटी दिखला कर कहा था-'भाई, इसी गेहूँ का सीरा बनता है और इसी गेहूँ की रोटी बनती है।' यह बात भाई को याद आ गई। उसने सोचा--इसका उत्तर देने का यही उपयुक्त समय है।

जब पहरावनी का समय आया तो बड़े-बड़े सेठ साहूकार जमा हुए। एक बड़े सेठ की ओर से पहरावनी आने वाली थी,

अतएव सब लोग उसे देखने को उत्सुक थे । सोचते थे-देखें, क्या क्या आता है !

मगर इधर भाई साहब ने जो पहरावणी तैयार की, उसे देख कर सब हैरान रह गये। एक थाली में कुंकुम, चावल, चांदी की एक छोटी-सी डली और कच्चे सूत की कूकड़ी रख दी। साथ में एक लोटा और एक गिलास भी रख दिया। एक नौकर के हाथ में थाली दे दी गई। सेठजी इस सामान के साथ बहिन के घर पर आये। सब सोचने लगे-पहरावनी का सामान अब आता है, अब आता है। सब प्रतीक्षा में उत्सुक हो रहे। मगर सामान नहीं आया। थोड़ी देर बाद सेठजी ने अपनी बहिन से कहा-बहिन, देखती क्या हो ? इसी कूकड़ी का घाघरा बनता है, इसी का ओढ़ना। इसी की पगड़ी और इसी का दुपट्टा बनता है। यह चांदी है और इसी के सब जेवर बनते हैं। चिन्ता की क्या बात है !

बहिन इस कथन का मर्म समझ गई। और कोई नहीं समझ सका। अतीत की वह घटना उसे स्मरण हो आई और वह रोने लगी। मगर उसका अब उपाय क्या था ? वह मन ही मन पश्चात्ताप करने लगी-हाय, उस समय मुझे कैसी दुर्मति सूझी थी !

बहिन को उचित उत्तर दिया जा चुका। तदनन्तर सेठजी ने अपने एक आदमी को संकेत किया और जेवर तथा वस्त्रों से सजी हुई थालियों पर थालियाँ आने लगीं। यह देख कर लोग कहने लगे-यह क्या मामला है ? तब सेठजी ने कहा-हमारे यहाँ यही रीति है !

बस, फिर क्या था ! बहुमूल्य आभूषणों और वस्त्रों की पहरावनी पेश की गई—

आया म्हारा वीराजी राज, चूंदर लाया रेशमी।
मेलूं तो छाब भराय, ओढूं हीरा झड़ पड़े॥

जिस समय वाद्यों की मनोहर ध्वनि होती है, गीत गाये जाते हैं सुन्दर-सुन्दर वस्तुएँ उपहार में दी जाती हैं और बहिन-भाई स्वर्गीय प्रेम के साथ मिलते हैं, उस समय का दृश्य कितना-हृदयाभिराम और नयनाभिराम होता है! इस संसार में प्रतिष्ठा किसकी होती है? कहा है।

कलियुग में हो सत्कार जाके पास हो रुपैया।
कालू कालू सब जन कहते,
अब हो गयो प्रसिद्ध जहाँ में कालूराम भैया।
निर्धनिया को मिले न तरुणी,
बुड्ढे को मिले चार जो हो पास में रुपैया॥

वाह रे रूपचन्दजी! तुमने जिस रात में जन्म लिया, उस रात किसी ने जन्म नहीं लिया। इस कलिकाल में उसी का सत्कार होता है जिसके पास भज कल्दारम् होता है। जो गरीब हो और पास में पैसा न हो तो उसका विवाह होना भी कठिन हो जाता है! वही व्यक्ति धन के अभाव में 'कालू' या 'कलुवा' कहलाता है और जब धन सम्पन्न हो जाता है तो 'कालूराम भैया' के आदरसूचक शब्द से पुकारा जाता है। इस प्रकार दुनिया पैसे का ही सत्कार करना जानती है! संसार-जड़ का उपासक बन रहा है। लोग पैसे का जितना आदर करते हैं, उतना अगर मानवीय सद्गुणों का आदर करें तो संसार स्वर्ग बन जाय।

भाइयो ! मनुष्य का असली मूल्य पैसे से नहीं है। किसी के व्यक्तित्व को पैसे से मत देखो। यह देखो कि उसमें कितनी उदारता है, कितनी दयालुता है, कितनी सरलता और कितनी क्षमा है ! जिसके जीवन में समभाव की जागृति जितनी अधिक हो, वह उतना ही अधिक उच्च कोटि का व्यक्ति है।

जिसके मन में जड़ के प्रति आसक्ति नहीं रह गई है, जो आत्मा की ओर आकृष्ट हो गया है, आत्मा की ही सम्पत्ति को वृद्धिगत करने में संलग्न है और इसी कारण निरंजन निराकार प्रभु की उपासना में ही उद्यत रहता है, वही सत्कार--सन्मान करने योग्य है। वही वास्तव में विवेकवान् व्यक्ति है। ऐसा व्यक्ति स्वयं ही निरंजन निराकार पदवी को प्राप्त करता है।

आप जानते हैं कि सिद्धपद कैसा है ? प्रतिदिन प्रायः बोलते हैं कि—

'सिवमयलमरुअमणंतमक्खयमव्वाबाहमपुणरावित्तियं सिद्धिगइनामधेयं ठाणं ।'

अर्थात् सिद्धिगति नामक पद शिवस्वरूप है—सब प्रकार के उपद्रवों से रहित हैं, अचल है, वहाँ किसी भी प्रकार का रोग नहीं है, अनन्त है, क्षय से रहित है, सब प्रकार की बाधाओं-पीड़ाओं से रहित है और उस गति की एक बड़ी विशेषता यह भी है कि एक बार वह जिसे प्राप्त हो जाती है उसे फिर कभी संसार में लौटना नहीं पड़ता। एक बार मुक्ति मिली कि सदा के लिए सब दुःखों से छुटकारा मिला।

कई लोग समझते हैं कि मुक्त जीव भी संसार में आकर पुनः जन्म ग्रहण करते हैं। वे कहते हैं- अगर मोक्ष में गये जीव लौट

कर न आवें और सदा जाते रहें तो संसार किसी दिन जीवों से खाली हो जाएगा। एक दिन ऐसा होगा कि सब जीव मोक्ष मे पहुँच जाएँगे। मगर ऐसा संभव नहीं है। संसार कभी जीवों से खाली होने वाला नहीं। अतएव यही मानना मुक्ति संगत है कि मुक्ति से भी जीव लौट कर आते हैं।

ऐसा कहने वालों ने तत्त्व का स्वरूप नहीं जाना है। वे यह भी नहीं जानते कि जीव का जन्म और मरण किस कारण से होता है? एक योनि को त्याग कर दूसरी योनि में जाने का क्या कारण है? इस तथ्य को जो ठीक तरह समझ लेगा, वह इस प्रकार की भ्रमणा में नहीं पड़ेगा।

वास्तव में जन्म मरण का कारण कर्म है। कर्म के उदय से ही जीव नाना प्रकार की गतियों एवं योनियों में जन्म लेता है। कर्म के अभाव में न जन्म हो सकता है और न मृत्यु ही हो सकती है। सिद्ध पद तभी प्राप्त होता है जब समस्त कर्मों का क्षय हो जाता है. ऐसी स्थिति में फिर जन्म और मरण की संभावना ही नहीं रह जाती।

अब यह सवाल हल होना चाहिए कि अगर मुक्त जीव लौट कर संसार में नहीं आते तो ससार खाली क्यों नहीं हो जाता? इसका उत्तर यह है कि जो वस्तु परिमित होती है, उसी में न्यूनाधिकता होने की गुंजाइश हो सकती है। जो अपरिमित है, अनन्त ही नहीं वरन् अनन्तानन्त है, उसका कदापि क्षय नहीं हो सकता। उसमें न्यूनता और अधिकता का व्यवहार नहीं होता। जीवराशि अनन्तानन्त है, अतएव उसमें कमी होने का सवाल ही नहीं उठता।

इस प्रकार जो अनन्त और अक्षय निरंजन निराकार पद पर प्रतिष्ठित हो जाता है, वह सदा के लिए भव भ्रमण से छुटकारा

पा लेता है। दुःख तभी तक है जब तक संसार है। मोक्ष में कोई दुःख नहीं है। वहाँ आनन्द ही आनन्द है। न कोई चाकर है, न कोई ठाकुर है। साम्यवाद का परिपूर्ण रूप वहाँ विद्यमान है। ऐसे निरन्जन पद के लिए ही साधु, साध्वी, श्रावक और श्राविका रूप श्रीसंघ धर्मसाधना कर रहा है। इस प्रकार जो धर्मसाधना करेगा उसे आनन्द ही आनन्द की प्राप्ति होगी।

ब्यावर अजमेर)
२१-१०-४७ }

३

उपदेश का आदर्श

स्तुतिः—
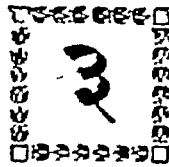
भिन्नेभकुम्भगलदुज्ज्वलशोणिताक्त-
मुक्ताफलप्रकरभूषितभूमिभागः ।
बद्धक्रमः क्रमगतं हरिणाधिपोऽपि,
नाक्रामति क्रमयुगाचलसंश्रितं ते ॥

भगवान् ऋषभदेव की स्तुति करते हुए आचार्य महाराज फर्माते हैं–हे सर्वज्ञ, सर्वदर्शी, अनन्तशक्तिमान्, पुरुषोत्तम ऋषभदेव भगवान् ! कहाँ तक आपकी स्तुति की जाय ? हे प्रभो ! कहाँ तक आपके गुण गाये जाएँ ?

हे महाप्रभो ! आपकी महिमा अपरम्पार है। आपके नाम के माहात्म्य का वर्णन कौन कर सकता है ? आपके परमपावन नाम का स्मरण करने से कभी-कभी ऐसा चमत्कार होता है कि बुद्धि चकित रह जाती है।

कोई पुरुष किसी कार्यवशात् कहीं जा रहा है। मार्ग में लम्बा और बीहड़ जंगल मिलता है। जंगल ऐसा है कि वहाँ हाथियों के झुंड के झुंड विचरण करते हैं और सिंह भी अपनी दिल हिला देने वाली दहाड़ से दिल दहला देते हैं। उसी जंगल में एक वृद्ध गजराज पड़ा है। उसके सिर में मोती है और उसे एक विकराल सिंह ने पकड़ लिया है। उसने गजराज की सूंड को चीर डाला है और गंडस्थलों को भी चीर रहा और खून पी रहा है। गजराज के गंडस्थलों से मोती निकल कर बिखर रहे हैं।

कितना भयावह दृश्य है! सुनसान जंगल में अचानक एक पथिक उधर जा पहुँचा है और उस दृश्य को देखता है तो पैरों तले की ज़मीन खिसक जाती है। उसका दम घुटने लगता है।

पींजरे में अवरुद्ध सिंह भी जब दहाड़ता है तो दर्शक होश-हवास भूल जाते हैं। हृदय घोर भय से आकुल-व्याकुल हो जाता है। ऐसी अवस्था में यदि अरण्य में स्वतंत्र शेर समीप में दिखाई दे और रक्षा का कोई साधन न हो तो मनुष्य की क्या दशा हो सकती है, यह समझना कठिन नहीं है। वास्तव में शेर के सामने टिका रहना साधारण बात नहीं है। ऐसे घोर संकटमय प्रसंग पर मनुष्य की गांठ की बुद्धि भी गायब हो जाती है। मनुष्य किंकर्त्तव्य विमूढ़ हो जाता है।

प्रभो! मगर ऐसी परिस्थिति में भी मनुष्य यदि आपके नाम का स्मरण करे तो सिंह उस पर आक्रमण नहीं कर सकता। आपके परमपूत नाम के महाप्रभाव से सिंह के पैर जैसे बँध जाते हैं। कदाचित् कोई आपका भक्त उसके पैरों में भी आ जाय तो भी वह हमला नहीं कर सकता। मनुष्य सकुशल अपने गन्तव्य पथ पर चला जाता है और सिंह अपने काम में लग जाता है।

इस प्रकार भगवान् के नाम में अपूर्व और अलौकिक सामर्थ्य है। मगर उस सामर्थ्य का उपयोग वहीं होता है जहाँ भगवान् के नाम पर परिपूर्ण आस्था होती है। दिल धक्-धक् कर रहा हो, हाथों के तोते उड़े जा रहे हों और विचार आ रहा हो कि न जाने भगवान् का नाम रटने से कुछ फल होगा या नहीं; तो यथेष्ट फल प्राप्त नहीं होता।

भाइयो! भगवद् नाम अपूर्व रसायन है। वह समस्त बाह्य और आन्तरिक रोगों को समूल नष्ट करने वाली अद्भुत औषध है। उसके प्रभाव से समस्त विघ्नों का विनाश हो जाता है संताप दूर हो जाते हैं और शान्ति की वर्षा होती है।

अन्यान्य क्रियाएँ कठिन परिश्रम और साधना से सम्पन्न होती है, परन्तु नामकीर्त्तन एक सरलतम साधन है। निरक्षर से निरक्षर भी, यदि हृदय में गहरी और निश्चल श्रद्धा हो तो इस साधन से लाभ उठा सकता है। अतः भगवान् के नाम का जप करके पुण्योपार्जन करना चाहिए। इस प्रकार जिनके नाम में अपूर्व सामर्थ्य है, उन ऋषभदेव भगवान् को हमारा बार-बार नमस्कार हो।

शेर कितना ही शक्तिशाली और पराक्रमी क्यों न हो, आखिर तो पशु ही है। उसकी शक्ति परिमित है। उसकी अपेक्षा कर्म बहुत अधिक जबर्दस्त शत्रु है। जब भगवान् के नाम स्मरण से कर्म-शत्रु भी नष्ट हो जाते हैं तो पशुयोनि के शेर का तो कहना ही क्या है?

पशुओं में भी दो प्रकार के पशु होते हैं—केसरी सिंह जैसे और गीदड़ या गाडर जैसे। जब सिंह अपना पराक्रम प्रकट करता है तो गाड़रें उसके सामने नहीं ठहरती। इसी प्रकार जब आत्मा

अपने स्वरूप को समझ लेता है और उसे प्रकट करने के लिए पराक्रम फोड़ता है तो कर्म गाड़रों की तरह ठहर नहीं सकते।

शेर का काम बड़ा जबर्दस्त है। वह पशुओं का राजा कहलाता है। जंगल का राजा भी कहा जाता है और मृगों का इन्द्र (मृगेन्द्र) भी कहलाता है। कहा है—

बाजा बाजे मद झरे, गढपति आयो चलाय।
सिंहनी कहे सिंह ने, जागो वन का राय॥

यह कवि की उक्ति है। वह कहता है- बाजे बज रहे हैं और मतवाले हाथियों के गंडस्थलों से मद झर रहा है और राजा शेर की शिकार करने निकला है। जंगल में चारों ओर घेरा डाला जा रहा है। ऐसे अवसर पर सिंहनी सिंह से कहती है—जागो, जागो नाथ, जागो। राजा फौज लेकर आया है।

सिंह बोला—मुझे सोने दे। नींद में व्याघात मत कर।

मगर सिंहनी अपने नारी स्वभाव के कारण घबराने लगी। जब वह बार-बार जगाने लगी तो सिंह ने कहा—

बाजा बाजे मद झरे, गढ़पति आयो न जान।
भोजां सब ही भागसी, माय जण्यो परमाण॥

ये बाजे बज रहे हैं और मदोन्मत्त हाथी आये हैं, लेकिन यह समझ लेना कि राजा आया ही नहीं है। कदाचित् आ गया तो पूंछ ऊँची करके जो दहाड़ मारूँगा कि भाग जाएगा। कहा है—

केहर केसरी खांग ऊँचो करी,
कौन शिशुपाल शृंगाल सांचो।

रण मांही रोलवो त्रण जिम तोड़सूं,
तो जाणजे पियो दूध काचो ॥

देखो, शेर की दहाड़ ऐसी होती है कि बड़े-बड़े गजराज भी उसे सुनकर दहल उठते हैं। हिरण बेचारे की तो उसके सामने बात ही क्या है!

मेवाड़ में निकुंभ नामक एक गांव है। वहाँ एक मगरा आ गया है। पता चला कि उस मगरे में एक सिंह है। सिपाही बंदूकें और तलवारें ले लेकर उसे मारने गए। वे पहाड़ पर ऊपर चढ़ने लगे तो मेहतरों के गडशूकर इधर-उधर भागने लगे। सिपाहियों ने समझा कि शेर आ गया है! उसके डर के कारण बंदूके और तलवारें उनके हाथ से छूट गई और स्वयं गिर पड़े।

कहिए, शेर को मारना या पकड़ना कुछ आसान है? शेर के शिकार के लिए बड़े ऊँचे- ऊँचे मचान बाँधे जाते हैं, लेकिन शेर मचान तक भी छलांग मार देता है। शेर कहता हैं-यदि मैं अपनी दहाड़ से शत्रु को भगा दूंगा तो वही असली माता से जन्म लेने का प्रमाण होगा।

इसी प्रकार यह आत्मा भी सिंह के समान है। जब यह अपने स्वरूप को भूल जाता है तो गाड़र बन जाता है और जब अपने स्वरूप को समझ लेता है तो फिर यह कर्म रूपी गाड़रें ठहर ही नहीं सकती। उन्हे यह आत्मासिंह क्षण भर में भगा देता है। क्या ताकत है उनकी कि थोड़ी देर के लिए भी खड़ी रह जाएँ!

अपनी शक्ति को न समझने के कारण ही आत्मा कर्मों के अधीन हो रहा है। कर्म जैसा नचाते हैं, जीव वैसा ही नाचता है। कर्म चाहे जो स्वाँग रचवाता है।

(४) मुनिराज रास्ते में जा रहे हों तो उठकर आदर के साथ नमस्कार करे। परन्तु यह बात भी राजा में कहाँ है? तब उसे कैसे उपदेश दिया जाय?

हाँ, तो कहने का अभिप्राय यह है कि व्याख्यान में और गोचरी में साधु को बहुत होशियारी रखना चाहिए। इनके अतिरिक्त तीसरी वस्तु है पढ़ना। पढ़ने के समय भी बड़ी होशियारी की आवश्यकता है।

प्रत्येक व्यवहार करते समय साधु को यह भी ध्यान रखना चाहिए कि सामने वाला किस प्रकार का श्रद्धा रखता है? वह अपने मत का है या अन्यमतावलम्बी है? यह विवेक न रख कर व्यवहार करने से कभी कभी अनर्थ हो जाता है। कोई बहिन बिना देखे पाला फैंक देती है तो जूतमपैजार तक की नौबत आ जाती है।

यों तो साधु का समग्र जीवन-व्यवहार ही संयत होता है और उसकी प्रत्येक प्रवृत्ति में विवेक का उज्ज्वल पुट रहता है, तथापि इन तीन बातों में तो विशेष रूप से सावधानी बरतनी ही चाहिए। श्रीमद् आचारांगसूत्र में भगवान फर्माते हैं—

'सव्वेसिं पाणाणं, सव्वेसिं भूयाणं, सव्वेसिं जीवाणं, सव्वेसिं, सत्ताणं अणुवीइ भिक्खू धम्ममाइक्खेज्जा।

निरवद्य भिक्षा लेने वाला भिक्षु कहलाता है। भगवान् फर्माते हैं-हे भिक्षु, जब तू उपदेश दे तो चार बातों का खयाल रखना। कहीं ऐसा न हो कि तेरा उपदेश सुनकर लोग मक्खी-मच्छर मारने लगे। किसी अभिप्राय से कही गई बात, यदि स्पष्ट रूप से न कही गई हो तो, श्रोता के दिमाग में उलटी जम जाती है और वह कुछ और ही समझ जाता है। ऐसे समय अर्थ का अनर्थ हो जाता है।

इसके अतिरिक्त, तेरे धर्मोपदेश से श्रोता पर ऐसा प्रभाव न पड़ जाय कि वह वनस्पतिकाय के जीवों की विराधना करने को तत्पर हो जाय। पूरी सावधानी रखना जिससे उपदेश का प्रभाव उलटा न हो। एक एक शब्द विचारपूर्ण होना चाहिए—

बहुत भणया कांई काम का, बोले नहीं विचार।
हणत पराई आतमा, जीभ चले तलवार॥

ज्ञान का सार है विवेक की प्राप्ति और विवेक की सार्थकता इस बात में है कि प्राणी मात्र के प्रति करुणा का भाव जागृत किया जाय। किसी ने बहुत पढ़ लिया है। बड़े-बड़े पोथे कंठस्थ कर डाले हैं अनेक शास्त्रों का ज्ञान प्राप्त कर लिया है। मगर उसके इस ज्ञान का क्या प्रयोजन है यदि वह सोच-विचार कर नहीं बोलता? जिसके उपदेश से छह काय का कूटा होता है, उसका उपदेश अनर्थ का ही जनक है। उससे उपदेशदाता की आत्मा का भी अहित होता है और श्रोताओं का भी अकल्याण होता है। वास्तव में भाषण करना एक महत्वपूर्ण व्यवहार है। भाषण ही मनोभावों को स्पष्ट रूप से व्यक्त करने का साधन है। ज्ञानी पुरुषों ने साधना-आराधना करके जो लोकोत्तर ज्ञान प्राप्त किया, उसका समस्त भाग तो शब्दों द्वारा व्यक्त नहीं किया जा सका। थोड़ा-सा जो अंश शब्दों द्वारा प्रकट किया सका, उसका श्रेय भाषा को ही है। भाषा न होती तो हम उस ज्ञान से सर्वथा वंचित ही रह गये होते और निविड़ अंधकार में ही भटक रहे होते।

इससे समझा जा सकता है कि भाषा की महिमा और उपयोगिता कितनी अधिक है। ऐसी उपयोगी भाषा जो आपको प्राप्त हुई है, उसका पूरा पूरा सदुपयोग करना चाहिए। चिन्तामणि को

परन्तु प्रश्न यह है कि कर्म बँधते क्यों हैं? आत्मा अपने गुणों से विरुद्ध प्रवृत्ति करता है, तब कर्म बँधते हैं। यह कर्मबंध का मूल कारण है।

शास्त्र में विधान है कि साधु को चार हाथ धरती आगे की देखते-देखते चलना चाहिए। इस विधान का उद्देश्य जीव-जन्तु की रक्षा करना है। अगर साधु इस शास्त्रादेश को शिरोधार्य करके चलता है और अपनी ओर से पूरी सतर्कता बरतता है कि उसके पैर से कोई जन्तु कुचल न जाय, फिर भी अकस्मात् कोई जीव उड़ता-फिरता आ जाय और दब जाय तो भी साधु हिंसा के पाप से लिप्त नहीं होता। इसके विपरीत, अगर कोई सतर्क होकर, यतना के साथ, ईर्याशोधन करता हुआ नहीं चल रहा है और फिर भी संयोगवशात् कोई जीव नहीं दबता और नहीं मरता, तो भी उसे कर्म का बंध होता है। इसका मूल कारण यही है कि साधु की भावना करुणापूर्ण है, शुद्ध है और वह अपनी ओर से सब संभव उपाय जीवरक्षा के लिए कर रहा है।

कल्पना कीजिए, मार्ग में एक जीव पड़ा है। किसी के पैर के नीचे दब कर उसके मर जाने की संभावना है। आपकी दृष्टि उसकी ओर आकर्षित हुई। दया से प्रेरित होकर आपने एक ओर रख देने के लिए हल्के हाथों उसे उठाया, परन्तु ऐसा करने में उसकी मृत्यु हो गई तो क्या आप हिंसा के पाप के भागी होंगे? नहीं। आपकी भावना में क्रूरता नहीं करुणा थी। द्वेष नहीं, दया थी। आप अपनी भावना के अनुसार फल पाएँगे।

भावना बड़ी चीज़ है। पाप-पुण्य, धर्म-अधर्म आदि का मूल भावना ही है। भावना यदि पवित्रता की उच्चतम सीमा पर पहुँच जाती है तो व्याख्यान-वाचन करते-करते भी कर्मों का विनाश हो सकता है।

पूज्य उदयसागरजी महाराज फर्माते थे कि साधुजी को तीन जगह बड़ी सावधानी रखने की आवश्यकता है। पहली जगह है व्याख्यान। व्याख्यान करने वाला साधु बड़ा बुद्धिमान होनो चाहिए। दूसरे, गोचरी में बहुत होशियारी रखना चाहिए क्योंकि गोचरी में दोष लगने की संभावना अधिक रहती है। साधु होशियार न हो तो दान देते-देते दाता के भी भाव बिगड़ जाते हैं। गृहस्थ के घर में कई प्रकार की स्त्रियाँ होती हैं, पुरुष भी होते हैं। साधु होशियारी रखे तो धर्म को दिपाता है।

भाइयो! केवल गोचरी लाने-में मिथ्यात्वी को भी समकिती बनाया जा सकता है। अगर साधु विवेकवान् है, वैरागी है तो उसकी क्रिया देख कर लोगों का मन अच्छे रस्ते पर आ जाता है। अतएव गोचरी लाना भी बहुत होशियारी का काम है।

चेलना रानी ने केशी श्रमण से कहा कि महाराज को राजा को) धर्मोपदेश दीजिए। तब मुनिराज बोले-उपदेश देने की मनाई नहीं है। हमारा काम ही यह है कि जो अधर्म के मार्ग पर चल रहे हैं उन्हे धर्म का उपदेश देकर धर्म-मार्ग पर लाएँ। मगर उपदेश का असर उसी पर होता है जिसमें चार बातें हों—

(१) राजा अगर मुनिराज के सामने जाय तो उपदेश लगे, लेकिन राजा कभी सामने नहीं जाता।

(२) राजा मुनि के स्थान पर उपदेश सुनने के लिए पहुँचे तो धर्म की प्राप्ति हो। किन्तु वह तो कभी भूल कर भी उपदेश नहीं सुनता।

(३) मुनि गोचरी के लिए पहुँचें और स्वयं अपने हाथ से आहारदान दे तो भी धर्म की प्राप्ति हो सकती है। मगर राजा में यह बात भी नहीं है।

पाकर जो उसका दुरुपयोग करता है, उससे बढ़कर मूर्ख और कौन होगा ? इसी प्रकार ज्ञान-विज्ञान के तथा साथ ही समस्त लोक-व्यवहार के महत्त्वपूर्ण साधन भाषा का दुरुपयोग करने वाला भी मूर्ख ही कहा जा सकता है।

जिन वचनों से हिंसा को प्रेरणा या उत्तेजना मिले, वह वचन भाषा क दुरुपयोग मे ही सम्मिलित हैं। बल्कि यह कहना उचित होगा कि हिंसावर्धक वचन भाषा का सबसे बड़ा दुरुपयोग है।

कई बार उपदेशक समझतो है कि मैं कितना समर्थ हूँ कि मैंने अपने वाक्कौशल से दुनिया को नवीन रास्ते पर चला दिया; और ऐसा समझ कर वह बड़े गर्व का अनुभव करता है। परन्तु उसे यह विचार नहीं होता कि उसने कितना आरंभ-समारंभ बढ़ा दिया है !

संसार में बहुत-से जीव उलटे रास्ते चलने लगते है। तलवार को मूठ को तरफ से पकड़ने वाला योद्धा तो अपने शत्रुओं का नाश कर सकता है और उसी तलवार को धार की ओर से पकड़ने वाला अपनी ही उगलियाँ काट लेता है। इसी प्रकार बहुत पढ़-लिख कर जो अपनी स्वच्छन्द बुद्धि से शास्त्रों की विपरीत प्ररूपणा करता है, वह आत्मवध और परवध के समान पाप करता है। यह मनुष्य की सब से बड़ी अप्रामाणिकता है कि वह अपने निजी विचार को शास्त्रों के मत्थे मढ़ता है और जो कुछ कहना चाहता है उसे अपनी ओर से न कह कर शास्त्रकारों के नाम से कहता है ! इसके लिए उसे कई बार अर्थ का अनर्थ करना पड़ता है। कई बार वह मन ही मन समझता भी है कि मैं अपने प्रति भी अन्याय कर रहा हूँ, तथापि वह अपने दुष्प्रयत्न से विरत नहीं होता। किसी प्रकार की लौकिक एषणा इसमें कारणभूत होती है। ऐसे व्यक्ति को कदा-

चित् यश प्राप्त भी हो जाय तो भी परलोक में उसकी दुर्दशा ही होगी।

अनीति और अप्रमाणिकता के आधार पर उपार्जित की गई कीर्ति कितने काल तक ठहरेगी ?

सच्चे विद्वान् और ज्ञानवान पुरुष का कर्त्तव्य है कि वह शास्त्रों का यथातथ्य शुद्ध और संगत अर्थ ही करे। वह सूक्ष्म दृष्टि से देखे कि शास्त्र में कौन सी बात किस अपेक्षा से कही गई है ? जो बात जिस अपेक्षा से जहाँ कही गई हो, वहाँ उसी अपेक्षा से वही अर्थ करना उचित है ऐसा करने वाला शास्त्र के प्रति न्याय करता है, अपने प्रति न्याय करता है और अपने ऊपर विश्वास रखने वाले श्रोताओं के प्रति भी न्याय करता है।

एकान्तवाद कभी समीचीन नहीं होता। सत्य की प्रतिष्ठा अनेकान्तवाद को भव्य भूमिका पर ही हो सकती है। परन्तु अनेकान्तवाद और एकान्तवाद भी दो-दो प्रकार के हैं-सम्यक् और मिथ्या।

अनुचित और असत्य अपेक्षाओं से एक वस्तु में अनेक धर्म अंगीकार करना मिथ्या अनेकान्तवाद है। जैसे कोई कहे कि जीव द्रव्य की अपेक्षा से अनित्य है और पर्याय की अपेक्षा से नित्य है। यहाँ एक ही द्रव्य में नित्यता और अनित्यता-दोनों का विधान करना अनेकान्तवाद तो हुआ, किन्तु विपरीत अपेक्षाओं से इसका विधान किया गया है, अतएव यह मिथ्या अनेकान्तवाद है। सच्चे अनेकान्तवाद की प्ररूपणा तो यह है कि वस्तु द्रव्य से नित्य और पर्याय से अनित्य है।

इसी प्रकार जब सम्यक् नय की अपेक्षा से एकान्त का अर्थात् किसी एक धर्म का विधान किया जाता है और उसके विरोधी धर्म

का निषेध नहीं किया जाता, तब वह सम्यक् एकान्त होता है। इसके विपरीत जब दूसरे धर्म का निषेध करके एक ही किसी धर्म का अस्तित्व स्वीकार किया जाता है तो वह मिथ्या एकान्त होता है।

इस प्रकार एकान्त और अनेकान्त को भी भली-भाँति समझने की आवश्यकता है। जो ठीक तरह समझे बिना अपेक्षावाद का प्रयोग करता है, वह सत्य से च्युत हो जाता है।

पाँच पाप और पन्द्रह कर्मादान त्यागने योग्य हैं। उनके विषय में अगर कोई कहने लगे कि वे त्यागने योग्य भी हैं और ग्रहण करने योग्य भी हैं; तो यह भी मिथ्या अनेकान्त कहलाएगा। इनके विषय में सही अनेकान्त तो यही है कि वे हेय हैं, ग्राह्य नहीं हैं।

अभिप्राय यह है कि वक्ता को शास्त्र का वास्तविक आशय समझ कर समीचीन और हितकर उपदेश ही देना चाहिए। अपनी कल्पना के घोड़े दौड़ाना ठीक नहीं है।

श्रीमद् दशवैकालिकसूत्र में कहा है कि ऐसा उपदेश मत करो जिससे सुनने वालों में विग्रह उत्पन्न हो जाय। ऐसा भी उपदेश करना योग्य नहीं जो श्रोताओं के चित्त में क्रोध का आवेश पैदा कर दे। वक्ता को देश, काल, भाव, पात्र आदि देख कर ही उपदेश देना चाहिए। उसे समझना चाहिए कि श्रोता किस कोटि के हैं, किस मान्यता के हैं, उनकी श्रद्धा कैसी है, आदि। यह सब जान कर उचित रीति से उन्हें तत्त्व का बोध देना चाहिए। तभी सफलता मिल सकती है।

बहुत जगह कहा है कि मांस खाने वाला नरक में जाता है, लेकिन जब कोई राजा उपदेश सुनने को आया हुआ हो, तब इस प्रकार कहना उचित नहीं है। इसका अभिप्राय यह नहीं कि उस

समय सत्य को दबा दिया जाय अथवा लिहाज या संकोच के कारण अन्यथा प्ररूपणा की जाय, फिर भी ऐसे अवसर पर बहुत सोच-विचार कर बोलना चाहिए। ध्यान रखना चाहिए कि श्रोता के हृदय को आघात न लगे। बात वही कही जाय पर इस ढंग से कि श्रोता पर अनुकूल असर हो, प्रतिकूल नहीं। वह उपदेश सुनकर भड़क न जाय, बल्कि प्रभावित होकर सन्मार्ग पर आ जाय।

कहने-कहने के ढंग में बहुत अन्तर होता है। अंधे से 'तू अंधा कैसे हुआ ?' इस प्रकार नहीं पूछना चाहिए किन्तु 'भाई, तुम्हारी आँख जाने का क्या कारण हुआ' ऐसा पूछा जा सकता है। यों पूछने से उसे दुःख नहीं होगा।

अभिप्राय यह है कि बात कहने में पटुता और विवेक चाहिए। सब बातों में पटु हो गये, लेकिन—

सीखियो श्लोक रुप कविता गीत ने छन्द,
ज्योतिष में सीख नित्य रहत गरूर में।
सीख्यो है सब सौदागरी बजाजी और सराफी जान,
लाखन को फेरहार चह्यो जात पूर में।
सीख्यो सब यंत्र मंत्र तरक विवाद और,
पींगल पुराण सीख सीख भयो शूर में।
सीख्यो सब बाट घाट निपट सयानो भयो,
एक बोलवो न सीख्यो गयो सब धूर में॥

बढ़िया-बढ़िया श्लोक बनाने की कला सीख ली, कविता करने लगे, पिंगल को घोट कर पी गये, पानी में तैरने में कुशल हो

गये, मंत्र-तंत्र जादू-टोना सब आ गया, और भी सब विद्याओं में पारंगत हो गये, मगर बोलने की कला अगर न आई तो सब विद्याएँ धूल में मिल गई समझो। सब वृथा सिद्ध हुआ।

कोई-कोई कहता है—क्या करें महाराज! मुँह से निकल जाता है! किन्तु तभी तो यह शूल बिखर जाते हैं।

हाँ, तो व्याख्यान सुनाते समय पूरे विचार के साथ ही सुनाना चाहिए। देखना चाहिए कि किस-किस प्रकार के श्रोता सामने बैठे है। सारी परिस्थिति का पूरा खयाल रखते हुए जो उपदेश करता है, उसी का प्रभाव पड़ता है और उसी के उपदेश से श्रोता सन्मार्ग पर आते है। इसी प्रकार से दिया हुआ उपदेश जीवों के लिए हितकारी हो सकता है।

केशी श्रमण ने प्रदेशी राजा को चोर कह दिया, लेकिन वे तो द्रव्य, क्षेत्र काल, भाव के विशिष्ट ज्ञाता थे और साथ ही आगम व्यवहारी थे। आगम व्यवहारी वही होते हैं जो चौदह पूर्वों के ज्ञाता हों। वे अवधिज्ञानी, मनःपर्याय ज्ञानी अथवा केवलज्ञान के धनी होते हैं जो आगे-पीछे का सब बातें जानते हैं। अतएव अपने लोकोत्तर ज्ञान से उन्होंने जान लिया था कि इस राजा पर ऐसा कहने से ही असर होगा। हम साधारण ज्ञानी उनका अनुकरण नहीं कर सकते।

हमने महाराणा फतहसिंहजी को उपदेश दिया। इस समय हमारे हृदय में एक मात्र यही भावना थी कि कैसा भी कहने से इनके हृदय में दया धर्म का प्रवेश हो जाय। अतएव हमने कहा—महाराणा साहब, इस जीवन में दया धर्म की आराधना नहीं करोगे तो चारों गतियों और चौरासी लाख जीव योनियों में इस जीव को परिभ्रमण करना होगा।

महाराज बोले—क्या कहते हैं आप ?

हमने फिर वही बात दोहराई। उन्होंने आशय को समझ कर कहा—ठीक कहते हैं आप। बात सच्ची है।

अगर आप दूसरे के हित की ही कामना करते है और सामान्य विवेक का परित्याग नहीं करते तो सुनने वाले को बुरा नहीं लगेगा।

एक भील जंगल में लकड़ी काटने गया। भाग्यवशात् वह प्रतिदिन की अपेक्षा कुछ आगे चला गया और वहाँ उसे चन्दन का पेड़ मिल गया। उसे काट कर उसने भारा बनाया और सिर पर रख कर घर ले आया। उसने सोचा-अभी इसे बेचना ठीक नहीं। पहले जरा अधिक लकड़ियाँ जमा कर लूँ तब बेचूँगा। इकट्ठी रकम आएगी तो ठीक रहेगा यह सोच कर वह लकड़ियाँ इकट्ठा करने लगा। उसके चित्त में विचार आया-चन्दन की इतनी लकड़ियाँ कौन खरीदेगा ? अगर राजा मर जाय तो अच्छी रकम उपज सकती है !

एक दिन राजा की सवारी निकली। सब लोग उसे देखने लगे और भील भी देखने लगा। उस समय भी उसके दिल में यही विचार चक्कर काटता रहा कि-कब राजा मरे और कब मेरा चन्दन की लकड़ियों के पैसे खड़े हों।

अकस्मात् राजा की दृष्टि उस भील पर पड़ी। भील को देख कर राजा के मन में न जाने क्या भावनाएँ उत्पन्न हुईं। मगर उसने दीवान को बुला कर आदेश दे दिया कि इस भील को कल फाँसी पर लटका दिया जाय।

दीवान ने राजा के आदेश को शिरोधार्य किया; मगर दूसरे दिन प्रभात में ही उसने विचार किया-बेचारे गरीब को बिना अपराध ही फांसी का हुक्म हो गया। समझ में नहीं आता कि इस हुक्म के पीछे क्या रहस्य है ? मेरा कर्त्तव्य है कि इस मामले में छानबीन करूं और न्याय के लिए प्रयत्न करूँ।

दीवान निवृत्त होकर भील के घर आया। और बहुत-से लोग भी वहाँ एकत्र हो गये। दीवान न भील से पूछा--तुम क्या धंधा करते हो ?

भील -जंगल से लकड़ियाँ काट- काट कर लाता हूँ और बेचता हूँ।

दीवान बहुत चतुर था और राजा उसकी बात पर पूरा ध्यान देता था। उसने पूछा--क्या तुम जानते हो कि तुम्हे फांसा का सजा सुनाई गई है ?

भोल—जी हाँ, सुना है।

दीवान—तुमने क्या अपराध किया है ?

भील—हुजूर, मैं ने कोई अपराध नहीं किया। अलबत्ता एक भूल मुझसे हुई है। मैं ने चन्दन की बहुत-सी लकड़ी जमा की है। उसके अच्छे दाम पाने के खयाल से मैं ने राजा की मृत्यु की कामना की। सोचा कि अगर राजा की मृत्यु हो जाय तो अच्छी रकम वसूल हो !

दीवान मनोविज्ञान का अच्छा ज्ञाता था। भील का स्पष्टीकरण सुनकर वह समझ गया कि इसकी राजा के प्रति मलीन भावना उत्पन्न हुई, इसी कारण इस पर दृष्टि पड़ते ही राजा की भावना भी मलीन हो गई। यही फांसी के हुक्म का रहस्य है।

दीवान ने अच्छे भावों पर उसकी सारी लकड़ी खरीद ली। वह जितनी रकम सोचता था, उससे भी अधिक पाकर सन्तुष्ट हुआ। अब उसकी वह दूषित भावना नहीं रही।

दस दिन बाद फिर राजा की सवारी निकली और लोग देखने लगे। यह भील भी देखने लगा। पुनः राजा की दृष्टि भील पर पड़ी और पिछली बार की स्मृति जाग उठी। तब राजा ने दीवान से पूछा-क्यों जी, इस भील को फांसी नहीं दी गई ?

दीवान ने कहा—पृथ्वीनाथ ! भूल हो गई। उस दिन के बाद जरा भी याद नहीं आई।

भील की नीयत बदल जाने के कारण राजा की भी भावना बदल चुकी थी। अतएव राजा ने कहा-दीवान, अच्छा ही हुआ कि इसे फांसी नहीं दी गई। अब इसे फांसी मत देना।

अभिप्राय यह है कि जिसके प्रति आपके मन में जैसी भावना होगी, आपके प्रति उसके मन में भी वैसी ही भावना होगी। जैसा चेहरा लेकर दर्पण के सन्मुख जाओगे, वैसा ही रूप देखने को मिलेगा। इस तथ्य के आधार पर, प्रशस्त भाव से प्रेरित होकर अगर साधु उपदेश देगा तो श्रोताओं के चित्त में भी प्रशस्त भावों का उदय होगा। अतएव व्याख्यान देते समय शुभ और स्वच्छ भावना रखनी चाहिए।

बहुत से लोग समझते हैं कि मन में चाहे जैसा विचार करते रहे, कौन पूछता है ? विचारों को कौन देख सकता है ? मगर उनकी यह धारणा निर्मूल है। नीतिकार कहते है—

वक्त्रं वक्ति हि मानसम्।

अर्थात्—चेहरा ही मन की बात कह देता है।

आपके चित्त में जो विचारधारा प्रवाहित हो रही है, मत समझो कि वह गुप्त ही रह जायगी। उसे तो आपका चेहरा ही प्रकट कर रहा है। हृदय में जब क्रोध का भाव उदित होता है तो आँखें आप ही आप अस्वाभाविक रूप से चमकने लगती है। उनका रूप बदल जाता है। होठ फड़कने लगते हैं और ललाट सिकुड़ने लगता है। इसी प्रकार दिल जब दया से द्रवित होता है तो भी चेहरे पर विशिष्ट प्रकार के चिह्न प्रकट हो जाते है और जानने वाले जान लेते हैं कि इसके मन मे क्या है ? आँखों से आँखें मिला कर ही बुद्धिमान् लोग समस्त सार निकाल लेते हैं। कहा है—

पग पिछाणे पगरखी, मोर पिछाणे मेह।
चोर पिछाणे चोरने, नेण पिछाणे नेह ॥

रात्रि के समय भी पैर जूते को पहचान लेता है। मोर पानी के आगमन को अच्छी तरह जानता है। चोर अपने सजातीय-चोर को तत्काल ताड़ लेता हैं। इसी प्रकार आँखें चार होते ही स्पष्ट मालूम हो जाता है कि इसके मन में क्या है ? इसकी भावना क्या है ? इस प्रकार आँखों से आँखों की पहचान हो जाती है। व्यवहार में कहा भी जाता है-आज तो आँखे ही बदल गई !

आशय यह है कि अपने मन में जैसे विचार होंगे, वैसे ही दूसरे के विचार हो जाएँगे। अगर आपके हृदय में जगत् के समस्त जीवों के प्रति मैत्री का भाव उत्पन्न हो गया है और शत्रुता के लिए किसी भी कोने में जरा भी अवकाश नहीं रहा है तो समझ लीजिए कि सारा जगत् आपको भी मित्रभाव से देखेगा। आपको किसी स भय खाने की आवश्यकता नहीं है।

साधु व्याख्यान देवे तो जीवों के हित और सुख की भावना से ही दे। देश और काल के अनुरूप ही बात कहे। उसे ध्यान रखना चाहिए कि सामने सुनने वाले कौन-कौन हैं? शाक--भाजी खरीदने वाले हैं या रत्नों के खरीददार हैं, या मेवा मिष्ठान्न के ग्राहक हैं? इस बात पर ध्यान रखकर उन्हें वैसा ही उपदेश देना चाहिए। जिस योग्यता के श्रोता हों, उसी प्रकार का उपदेश देने से वक्ता को सफलता मिलती है। वक्ता अगर उच्च कोटि की दार्शनिकता प्रकट करने लगे। और विद्वत्ता की गूढ़ बातें कहने लगे और श्रोता बहुत साधारण योग्यता के हों तो उन बातों की क्या सार्थकता है? उनके लिए साधारण कोटि की बातें ही उपयुक्त हो सकती हैं।

उपदेश करते समय सर्वोपरि ध्यान रखने योग्य बात तो यह है कि उपदेश से किसी भी जीव की हिंसा को उत्तेजना न मिले। अहिंसा भगवती की आराधना के लिए ही उपदेश होना चाहिए। अहिंसा की आराधना ही इह-परभव सबंधी सब सुखों की बीज है और इसी से कर्मों का क्षय होता है। अतएव उपदेश का समग्र लक्ष्य अहिंसा ही हो। दया की प्रधानता प्रत्येक वाक्य से टपकती रहे। सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य आदि प्रशस्त भावों पर भी जो बल दिया जाता है सो अहिंसा की पूर्ण साधना के लिए समझना चाहिए।

कभी- कभी व्याख्याता भावों के प्रवाह में ऐसा बह जाता है कि वह उपदेश के ध्येय को भी विस्मृत कर बैठता है। श्रोताओं के समक्ष ऐसा रसनिरूपण करता है कि उनके चित्त में विकार का उद्रेक हो उठता है। इस बात को नहीं भूलना है कि उपदेशक की किसी बात से श्रोताओं के दिल में कामाग्नि न भड़क उठे। कोई बेढंगी बात उपदेश में आ जाय तो श्रोताओं पर विपरीत असर पड़ जाता है।

सुधर्मा स्वामी ने उपदेश दिया तो जम्बू स्वामी जैसे नव-विवाहित तरुण भी तपस्वी बन गये।

मुनिराज उपदेश देते हैं तो यही कहते हैं कि जगत् मिथ्या है। यह आत्मा नाना अवस्थाओं, योनियों और गतियों में निरंतर भ्रमण करता रहता है। इस आत्मा ने ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र के रूप में जन्म धारण किया है। राजा महाराजा और सम्राट् बना। सेट-साहूकार हुआ। अनन्त वार तलवारें चलाईं मारकाट मचाई, शत्रुओं पर विजय प्राप्त करने के उन्माद से मतवाला बना। अपने कुटुम्ब का पालन--पोषण किया, पक्षपात किया और सुख पाने की लालसा से प्रेरित होकर क्या-क्या नहीं किया? दुनिया में जितने भी दुष्कृत होते हैं, सभी कर डाले। एक वार नहीं अनेक वार, अनन्त वार! मगर हे जीव! इससे तेरे प्रयोजन की सिद्धि नहीं हुई। तूने बड़े-बड़े हवाई महल खड़े किये परन्तु अचानक किसी ओर से ऐसा एक झोंका आया कि उनके ढहते देर नहीं लगी। तेरे प्रति वही 'पुनर्मूषिको भव' की कहावत चरितार्थ हुई। सब किया-कराया मिट्टी में मिल गया। अनन्त में ज्यों के त्यों रह गये। कुछ भी शेष नहीं रहा। आत्मा कर्मों से भारी बनी और दुर्गति का भाजन बनी, बस यही लाभ हो सका!

मुनिराज कहते हैं-आत्मा का सर्वोत्कृष्ट पुरुषार्थ यदि कोई है तो वह यही कि उसे कर्म रूप उपाधि से पृथक् किया जाय जिसने इसमें सफलता पा ली, उसे अन्य कुछ भी करना शेष नहीं रहा। वह सदा के लिए कृतकृत्य हो गया। वह भव-सागर से पार हो चुका और तीन लोक का नाथ बन गया। ईश्वर में और उसमें कुछ भी अन्तर नहीं रहा। अतएव इसी पुरुषार्थ की सिद्धि के लिए मनुष्य मात्र को प्रयास करना चाहिए।

उपदेश इसी प्रकार का होना आवश्यक है, अन्यथा कर्मों का नाश के बदले उपचय हो जाता है और धर्म कथा पाप कथा बन जाती है।

आना जो हुआ मेरा फक्त उपदेश देने को,
मोह की नींद को छोड़ो, तिरो २ यह कहने को ॥

मुनिराज नगरों-नगरों में और ग्रामों-ग्रामों में विचरण करते है। उनके विचरण का उद्देश्य यही होता है कि मनुष्य किसी प्रकार असत् मार्ग का परित्याग करके सन्मार्ग पर आवें। जगत् में शांति का स्थापना हो और प्रत्येक व्यक्ति अपना उत्थान करने के लिए प्रेरित हो। उनका उद्देश्य पेट भरना नही होता। ऐसा भी नहीं होना चाहिए कि मुनि के उपदेश से कहीं फूट उत्पन्न हो जाय और जहाँ शान्ति है वहाँ अशान्ति उत्पन्न हो जाय।

कभी कभी साधु को भी विकट परिस्थिति में से गुजरना पड़ता है। उसके सामने अनेक उलझन खड़ी हो जाती है। किसी किसी जगह आपस में लोग दल बन्दियाँ करके झगड़ते है और जब मुनि ऐसी जगह जा पहुँचता है तो उसे एकता स्थापित करने में कठिनाई होती है। फिर भी उत्साहवान् रह कर साधु को एकता का प्रयत्न करना ही चाहिए।

आध्यात्मिक उन्नति और सामाजिक शान्ति दोनों परस्पर सापेक्ष हैं। समाज में शान्ति होगी तो व्यक्ति अपनी आध्यात्मिक उन्नति कर सकेगा। जब समाज में ही शान्ति नहीं होती तो आध्यात्मिक जागरण के लिए उपयुक्त वायुमडल ही तैयार नहीं हो पाता। फिर भी साधु तो जहाँ जाता है यही कहता है-मोह-नींद को छोड़ो और हे भव्य जीवो! ससार-सागर से तिरने का प्रयास करो।

समझो, समझते क्यों नहीं हो ? बार-बार समझ को अवसर मिलना मुश्किल है।

देखो, प्रदेशी राजा नास्तिक था। न तो धर्म को, न परलोक को, न आत्मा को और न साधुसंतों को ही मानता था। मगर जब केशी श्रमण ने उसे उपदेश दिया तो वह उसी दिन से पक्का आस्तिक बन गया। जब केशी श्रमण विहार करने लगे तो बोले-आज तो मैं यहाँ हूँ मगर जब चला जाऊँगा तो कैसे समझूँगा कि तेरी प्रवृत्ति किस प्रकार की है ? तू फिर वैसा का वैसा ही हो गया है या नहीं, यह जानने का साधन क्या होगा ?

राजा ने विनय के साथ कहा-नहीं महाराज, अब मैं फिर वैसा नहीं होऊँगा। मैं आज से ही अपने सात हजार गाँवों की आमदनी का चौथा हिस्सा दानशाला में लगाता हूँ।

आज स्थानकवासी सम्प्रदाय का जो उपदेश है वही भगवान् महावीर का उपदेश था। कई भाई कहते है कि मंगते को दान देना पाप है और दानशाला अथवा विद्याशाला में दान देना भी पाप है। किसी श्रावक ने तेला पंचोला का तप किया हो और दूसरा श्रावक उसका पारणा करवाता है तो पाप करता है! इस प्रकार जब श्रावक को जिमाने में भी पाप होता है तो राजा को दानशाला खोलने से कितना पाप नहीं होना चाहिए ? अगर किसी को दान देना पाप होता तो केशी श्रमण स्वयं ही कह देते-क्यों दान करता है, काली धार डूब जाएगा !

आप स्वयं विचार कीजिए कि दीन जनों को दान देना अगर पाप होता तो केशी स्वामी ने क्यों प्रदेशी राजा को मना नहीं किया ? मगर वास्तव में ऐसा नहीं है। करुणादान सभी को किया जाना चाहिए। जो दीन है, गरीब है, भूखा है, उस पर अनुकम्पा करके साता पहुँचाने से मनुष्य को साता उपजती है।

जो आस्तिक होगा वह परलोक भी मानेगा और परलोक मानने वाला दान, शील, तप और भावना रूप चारों प्रकार के धर्म का आचरण करेगा। वह संयम भी पालेगा और परलोक के लिए खर्ची साथ ले जाएगा।

मुसाफिर यहाँ से खर्ची ले ले लार।

भाइयो! भूल न जाओ कि तुम भी मुसाफिर हो। माना कि यहाँ तुमने हवेली खड़ी कर ली है और विपुल स्थावर और जंगम जायदाद बना ली है, फिर भी मुसाफिर ही हो। सदैव यहाँ रह नहीं सकोगे। कहीं से आये हो और कहीं जाओगे। पूर्वभव में जैसा करके आए हो, वैसा ही यहाँ पाया है और यहाँ जैसा करोगे, वैसा पाओगे। कहा है—

पूर्व जन्म में किया मिला, अब करो वही फिर पाओगे।
जो गफलत के बीच रहे तो, मित्र! बहुत पछताओगे॥

आज तुम्हें जो भी सुख की सामग्री प्राप्त हुई है, वह तुम्हारे पूर्वकृत कर्मों का ही फल है। इसलिए हे चतुर, तू चतुराई से काम ले। अगर आगे के लिए खर्ची नहीं लेगा तो मूर्ख बन जाएगा। यहाँ से आगे जायगा तो तुझे वहाँ हजामत के लिए पैसे भी कौन देगा? तेरी क्या गति होगी, जरा विचार कर। जो आस्तिक होते हैं वे भविष्यत् का अवश्य विचार करते हैं और भावी सुख के लिए प्रयत्न करते हैं।

जो भावी कल्याण का विचार करके उपदेश देता और उसे व्यवहार में लाता है, वह आनन्द ही आनन्द प्राप्त करता है।

ब्यावर (अजमेर)
२२-१०-४७

४
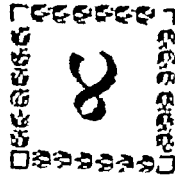
विवेक की आराधना

स्तुति:—

कल्पान्तकालपवनोद्धतवह्निकल्पम्,
दावानलं ज्वलितमुज्ज्वलमुत्स्फुलिंगम् ।
विश्वं जिघत्सुमिव सम्मुखमापतन्तं,
त्वन्नामकीर्त्तनजलं शमयत्यशेषम् ॥

भगवान् ऋषभदेव की स्तुति करते हुए आचार्य महाराज फर्माते हैं-हे सर्वज्ञ, सर्वदर्शी, अनन्तशक्तिमान्, पुरुषोत्तम ऋषभदेव भगवान् ! कहाँ तक आपकी स्तुति की जाय ? हे प्रभो ! कहाँ तक आपके गुण गाये जाएँ ?

कोई पुरुष किसी कार्यवशात जंगल में जा रहा है या कार्य करके वापिस जंगल में होकर आ रहा है। मगर उस जंगल में व्यापक रूप से दावानल सुलग रहा है। दावानल भी साधारण नहीं,

बड़ो प्रचण्ड है। ऐसा जान पड़ता है कि प्रलय कालीन पवन से उद्भूत बनी हुई आग है, जो समग्र विश्व को भस्म करने के लिए अपनी विकराल सहस्त्रों जिह्वाएँ लपलपा रही है। चम-चमाती हुई चिनगारियाँ निकल-निकल कर आसमान को भी अग्निमय बना रहा है।

ऐसे भयानक वातावरण में कोई पुरुष जाने का साहस नहीं कर सकता। मगर उस पुरुष को अनिवार्य कार्य है और वह सचता है कि अभी तो आग उधर दूर है और मैं जल्दी से निकल जाऊँगा। ऐसा विचार कर वह आगे बढ़ता है और बड़ी तेजी से भागता है। किन्तु यकायक हवा का रुख पलट जाता है और आग उसके सामने आ जाती है। अब वह मनुष्य सोचता है-जिस आग में फौलाद भी भस्म हो सकता है, उसमें पड़ कर कौन बच सकता है ?

अग्नि-शस्त्र बड़ा ही तीक्ष्ण और बेढ़ब है। अन्य शस्त्र तो प्रायः एक ओर से ही मार करते हैं, मगर आग तो सब ओर से जलाती है। अग्नि का कोई कोना ऐसा नहीं कि जिधर से न जलावे।

हाँ, तो उस मनुष्य के प्राण संकट में आ पड़े हैं। बचने का कोई मार्ग नहीं नजर आता। वह सोचता है कि मृत्यु अब निश्चित है और इसी एकान्त अरण्य में प्राणों की आहुति देना पड़ेगी।

किन्तु अचानक ही उसे, हे प्रभो ! आपके नाम का स्मरण हो आता है। वह आपके नाम का अमोघ मंत्र याद करता है। 'ॐ उसभं, ॐ उसभं' !

बस, प्रभु का नाम-स्मरण ही उस सर्वग्रासिनी अग्नि के लिए पानी का काम करता है। जैसे नदी में आग का जोर नहीं

चलता, उसी प्रकार आपके नाम के निकट दावानल भी प्रशान्त हो जाता है।

हे महाप्रभु! इस प्रकार आपके नाम में विस्मयजनक शक्ति है। ऐसी शक्ति जो मनुष्य की साधारण कल्पना में भी नहीं आ सकती। ऐसे भगवान् ऋषभदेव को ही हमारा वार-वार नमस्कार हो।

भाइयो! शुद्ध और सच्चे हृदय से परमात्मा का स्मरण करना चाहिए। प्रभु में सच्ची भावना होना चाहिए। ऐसा होने पर बाहर की आग क्या जन्म जरा मरण की आग भी शान्त हो जाती है। भगवान् के वचनामृत का पान करने से अन्तःकरण में सदैव प्रज्वलित रहने वाली, घोर संताप उत्पन्न करने वाली और मनुष्य को क्षण भर भी निराकुलता का अनुभव न करने देने वाली तृष्णा रूपी आग भी बुझ जाती है। किन्तु आत्मा में विचार और विवेक उत्पन्न होना चाहिए। जब तक विचार और विवेक उत्पन्न नहीं होता तब तक आत्मा सत्पथ पर नहीं चल सकता। परमात्मा के मार्ग पर चलाने वाला विवेक ही है।

विवेक वह प्रकाश है जिसके बिना कहीं और कभी काम नहीं चल सकता। क्या लौकिक और क्या लोकोत्तर, सभी कार्यों के लिए विवेक की अनिवार्य आवश्यकता होती है। कहा है—

अविवेकः परमापदां पदम्।

अर्थात्—अविवेक सब आपत्तियों का घर है।

जितनी भी बुराइयाँ उत्पन्न होती हैं, उन सब का मूल यदि खोजा जाय तो अविवेक ही होगा। व्यक्ति का अविवेक उसके जीवन को भ्रष्ट कर देता है। समाज की विवेक हीनता समाज को

रसातल में पहुंचा देती है और देश जब विवेक खो बैठता है तो वह भी अधःपतन के गहरे गड्हे में गिर जाता है।

विवेक का अर्थ है—सत एवं असत् के बीच भेद करना। क्या सत है, प्रशस्त है और कल्याणकारी है तथा किस बात से, विचार या कार्य से अकल्याण होने की संभावना है, इस प्रकार का विचार जो नहीं करता और आँख मींच कर कुछ भी कर बैठता है, अन्त में उसे पश्चात्ताप की अग्नि में झुलसना पड़ता है। इसके विपरीत जो व्यक्ति, समाज अथवा देश विवेक का दिव्य दीपक अपने सामने रखता है और उसके प्रकाश में ही अपने कर्त्तव्य का निश्चय करता है, उसे कभी संताप का अनुभव नहीं करना पड़ता। उसे असफलता का मुँह नहीं देखना पड़ता।

भगवद्भक्ति एक अत्यन्त पवित्र आचरण है, तथापि उसके लिए विवेक की आवश्यकता है। विवेकविहीन भक्ति यथेष्ट फल प्रदान करने में समर्थ नहीं होती। यही नहीं, कभी-कभी उससे विपरीत फल भी उत्पन्न हो जाता है। अतएव सर्वप्रथम अन्तःकरण में विवेक का प्रदीप जगाना चाहिए।

भगवान् महावीर स्वामी ने श्रीमद् आचारांग सूत्र में फर्माया है:—

गामे अदुवा रण्णे, णेव गामे णेव रण्णे—
धम्ममायाणह पवेदितं माहणेण मइमया।

—आचारांग ८ अ. १ उ.

भगवान कहते हैं कि चाहे तू गांव में रह चाहे जंगल में रह, मगर विवेकहीन जन के लिए कहीं कुछ नहीं है। विवेक विकल

व्यक्ति गांव में रहेगा तो वहाँ भी कर्मबंध करेगा और जंगल में जायगा तो भी कर्मबंध करेगा। उसके लिए सब जगह समान है।

विवेकहीन मनुष्य धर्म की जगह भी कर्म का बंध कर लेता है और विवेकवान् पाप की जगह भी धर्म कर लेता है।

विवेक संसार में बहुत बड़ी चीज है। वह मनुष्य का सबसे बडा गुण, सबसे बडा आभूषण और सबसे बड़ा मित्र है। विवेक जिसका सहायक है, उसे कभी और कहीं भी भयभीत होने को आवश्यकता नहीं। वह कहीं भी चला जाय, कोई खतरा नहीं। मनुष्य का विवेक उसे सदैव निरापद बनाये रखता है।

जो पुरुष धार्मिक है और साथ ही विवेकवान् है, वह सर्वत्र कर्मों की निर्जरा कर सकता है। विवेकवान की कितनी बडी विशेषता है कि वह अकल्याण की जगह भी कल्याण कर लेता है।

भगवतीसूत्र में एक वर्णन आया है। गौतम स्वामी ने श्री महावीर प्रभु से प्रश्न किया—भगवन् ! चेड़ा और कोणिक की लड़ाई में बहु संख्यक योद्धा मारे गये तो उनमें से कितने नरक में गये ? कितने तिर्यंचगति में जन्मे ? और कितने स्वर्ग में उत्पन्न हुए ?

लोग कहते हैं—जो लड़ाई में मारे जाते हैं, वे सीधे वैकुण्ठ में जाते हैं। मगर भगवान् ने फर्माया-बहुत से जीव तो नरक में गये और बहुत से योद्धाओं ने जानवरों की योनि में जन्म लिया। दस हजार जीव मछली के अंडों के रूप में उत्पन्न हुए। एक मनुष्य बना है और एक ने देवगति में जन्म पाया है।

स्वर्ग में जाने वाला भाग्यवान् पुरुष कौन था ? वह एक श्रावक था। उसका नाम था नाग नतुवा। उसने पहले दिन पोषध किया था। वह बड़ा जागीरदार था। उसे लड़ाई का समाचार भेजा

गया और उसमें सम्मिलित होने का निमंत्रण मिला तो दूसरे दिन पारणा किये बिना ही लड़ाई में चला गया।

प्राचीनकाल में नियमानुकूल युद्ध होता था। न्याय-नीति को तिलांजलि नहीं दी जाती थी। हाथी वाला हाथी वाले से ही लड़ता था। घुड़सवार का घुडसवार के साथ ही युद्ध होता था। पैदल पैदल के साथ चार हाथ करता था तो तलवार वाला तलवार वाले के साथ ही जूझता था। आजकल की भाँति पहले अनीतियुद्ध नहीं होते थे। आज तो किसी भी प्रकार की मर्यादा नहीं रही है। सैनिक-असैनिक का भी विवेक नहीं रक्खा जाता है। हवाई जहाज उड़ते-उड़ते आये और उन्होंने नगर पर बमवर्षा आरंभ कर दी। वहाँ सैनिकों का तो अता-पता भी नहीं चलता, वेचारे निरपराध नागरिक मारे जाते हैं। औरतों और बालकों पर बमवर्षा की जाती है और उनके प्राण लिये जाते हैं। पिछले महायुद्ध में जापान के दो नगरों पर बम गिराये गये और लाखों निरपराध प्रजाजन मार डाले गये, जिन्होंने युद्ध में कोई भाग नहीं लिया था! युद्ध संबंधी यह अनैतिकता अत्यन्त निन्दनीय है।

हाँ तो उस श्रावक योद्धा के सामने रथ वाला आया। उसके पास तीर-कमान था तो इसने भी अपना तीर-कमान सँभाला। परन्तु श्रावक अपने नियम से आबद्ध था। उसका नियम यह था कि शस्त्र उसी पर चलाऊँगा जो पहले मेरे ऊपर शस्त्र चलाएगा। मैं किसी भी निरपराध मनुष्य के प्राण नहीं लूँगा।

सामने वाले योद्धा ने तीर खींच कर मारा तो इसने भी तीर चलाया! उसका तीर इसको और इसका तीर उसको लगा। नाग नतुआ तीर से घायल हो गया। लड़ने की शक्ति नहीं रह गई तो युद्धभूमि से रथ हटाया गया और एक ओर जंगल में चला गया।

जब उसे निश्चय हो गया कि अब जिंदगी कायम नहीं रह सकती और मृत्यु निश्चित है तो जंगल में ही संथारा करके बैठ गया।

नाग नतुवा का एक मित्र था। वह भी बाण से घायल हो गया था और इसके साथ ही था। वह न श्रावक था और न जैन ही। धर्म से सर्वथा अनभिज्ञ था।

मगर नाग नतुवा जब रथ से नीचे उतरा तो यह भी उतर पड़ा। उसने भूमि का प्रमार्जन किया तो देखादेखी इसने भी प्रमार्जन किया। इस प्रकार वह नाग नतुवा का अनुकरण करता ही चला गया। नाग नतुवा ने 'नमोत्थुणं' का पाठ पढ़ा तो वह पाठ तो नहीं पढ़ सका, तथापि उसने उसी प्रकार घुटना ऊँचा किया और उसकी बाह्य चेष्टा का अनुकरण किया। उसकी भावना यह थी कि जो मेरे मित्र के हो वही मेरे हो।

यद्यपि इस अनुकरण करने वाले को धर्म का ज्ञान नहीं था, फिर भी विवेक था। वह अपने प्राप्त विवेक का उपयोग इस रूप में करने लगा।

सब धर्मों की मान्यता है कि–'यथा मतिस्तथा गतिः।' अर्थात् अन्तिम समय में जैसी मति होती है वैसी ही गति मिलती है।

प्रश्न हो सकता है कि यदि अंतिम समय की मति के अनुरूप ही गति होती है तो जीवन भर की क्रियाएँ और भावनाएँ क्या वृथा चली जाती हैं? जीवन भर अन्याय और पाप करने वाला मनुष्य अगर अन्त में मृत्यु के समय सुकृत कर ले और अच्छी भावना कर ले तो क्या उसे भी सद्गति प्राप्त होगी?

इस प्रश्न का उत्तर यही है कि जीवन में किये गये क्षण-क्षण के कृत्यों और भावों का हिसाब बराबर रहता है। कोई भी

पाप-पुण्य का कार्य निष्फल नहीं जाता। अन्तःकरण में पल भर के लिए भी उत्पन्न हुई प्रशस्त या अप्रशस्त भावना भी निष्फल नहीं होती। तथापि यह जो कहा जाता है कि अन्त काल की मति के अनुसार गति होती है, वह भी मिथ्या नहीं है। बात यह है कि जीवन में किये गये आचरणों और सेवन की गई भावनाओं का संस्कार आत्मा पर अंकित होता रहता है। उन संस्कारों के अनुसार ही अंतिम समय में बुद्धि उत्पन्न होती है। जिसका समग्र जीवन पवित्र संस्कारों का संचय किया है और उन संस्कारों के प्रभाव से अन्त मे उसकी मति पवित्र होगी। इसके विपरीत जिसकी जिंदगी पाप में व्यतीत हुई है, जो पाप कृत्यों में लीन रहा है और जिसका अन्तःकरण पापमयी भावनाओं से ही मलीन रहा है, उसने अपवित्र संस्कारों का संचय किया है और अन्त में उन संस्कारो के अनुरूप अपवित्र मति ही उसकी हो जाती है। इस कारण उसे अधोगति का पात्र बनना पड़ता है।

तो नाग नतुवा का मित्र यद्यपि धर्म का ज्ञाता नहीं था, फिर भी उसमें सरल भाव उत्पन्न हुआ। वह अपने मित्र की धार्मिकता पर दृढ़ विश्वास रखता हुआ उसका अनुकरण करने लगा। उसने तो बस यही सोच लिया कि—

आणूं-ताणूं कछू न जाणूं,
सत्य वचन परमाणूं।

इस प्रकार की निष्कपट-सरल श्रद्धा के कारण वह महाविदेह क्षेत्र में मनुष्य के रूप में उत्पन्न हुआ और नाग नतुवा देवलोक में जन्मा। श्रावक देवलोक में उत्पन्न हुआ। उसे दीर्घकाल तक मनुष्य भव पाने के लिए प्रतीक्षा करनी होगी, क्यों कि देवगति से मुक्ति नहीं मिलती। मुक्ति मानव भव से ही संभव है। पर उसका

मित्र सीधा विदेह क्षेत्र में मनुष्य के रूप में उत्पन्न हुआ। वह वहाँ दीक्षा धारण करेगा और मोक्ष में चला जाएगा।

यह विवेक की विशेषता है। दो व्यक्तियों ने विवेक से काम लिया तो उन्हें सद्गति की प्राप्ति हुई। वास्तव में जहाँ विवेक होता है वहाँ आत्मा का कल्याण होता है। जहाँ विवेक है वहीं धर्म है, वहीं सुख है और वहीं कल्याण है।

विवेकवान् व्यक्ति भी साधारण लोगों की भाँति ही बाह्य क्रियाएँ करता है। ऊपर-ऊपर से उसकी क्रियाओं में कोई खास अन्तर नहीं दिखाई देता। तथापि अन्दर में रहा हुआ विवेक परिणाम में बहुत बड़ा अन्तर उत्पन्न कर देता है। विवेकवान् के परिणामों की धारा शुद्ध रहती है। उसका हृदय अपवित्रता को सहन नहीं कर सकता। कदाचित् मलीन भावना उत्पन्न हो जाय तो वह क्षण भर में ही उसे दूर कर देता है। टिकने नहीं देता।

परन्तु विवेकहीन मनुष्य की बात न्यारी है। वह तो सामायिक जैसी परमपावन क्रिया में भी पाप का बंध कर लेता है। उसे यह भान नहीं रहता कि मैं कहाँ खड़ा हूँ, किस जगह बैठा हूँ और मुझे किस ढंग से व्यवहार करना चाहिए।

देखो, स्थूलिभद्रजी ने एक वेश्या के घर चौमासा किया। वेश्या ने विचार किया कि सारा श्रावण और भाद्रपद निकल गया और इस निर्मोही ने मेरे सामने आँख उठा कर भी नहीं देखा।

गृहस्थावस्था में बारह वर्ष तक इस वेश्या के साथ उनका घनिष्ठ सम्पर्क रहा था। उस समय वे सब कुछ भूल कर और लोकमर्यादा एवं शिष्टाचार की भी परवाह न करके वेश्या के घर में ही रहे थे। वेश्या ही उनके लिए सब कुछ थी। परन्तु जब अवि-

वेक का नशा उतरा और विवेक का होश आया तो अचानक ही सब कुछ पलट गया। स्थूलिभद्रजी वैरागी साधु बन गये। सब प्रकार की कामनाओं का समूल विनाश कर डाला। फिर वेश्या का उद्धार करने के लिए उसके घर पर ही चातुर्मास भी किया। वेश्या के विलासभवन को अपने लिए तपोवन बनाने वाले स्थूलिभद्र की आत्मा कितनी प्रबल न होगी !

वेश्या ने बहुत चाहा कि किसी प्रकार यह कब्जे में आ जाएं, पर स्थूलिभद्र मुनिराज चट्टान की भाँति अटल रहे। श्रेय और प्रेय का तीव्र संघर्ष चलता रहा, वासना और वैराग्य का द्वन्द्व मचा रहा, त्याग और भोग का युद्ध चरम सीमा पर पहुँच गया। स्थूलिभद्र स्वामी वासना के कीचड़ में लिप्त वारांगना का उद्धार करने के लिए प्रयत्नशील थे और वारांगना चाहती थी कि मेरा पूर्व प्रेमी पुनः प्रेम के पथ पर आजाए। मगर स्थूलिभद्र धर्मशूर साधु थे और उनके गुरु ने वेश्यागृह में चातुर्मास व्यतीत करने की जो अनुमति दी थी, सो कुछ सोच-समझ कर ही दी थी।

स्थूलिभद्र ने दीक्षा अंगीकार करते समय पूर्ण ब्रह्मचर्य पालने की प्रतिज्ञा की थी और वह प्रतिज्ञा उनके लिए बहुत बड़ा सहारा थी। बहुत से लोग कहते हैं-जिसे जो काम नहीं करना है, वह न करे। जो नियम पालना है वह भले पाले। परन्तु प्रतिज्ञा लेने की क्या आवश्यकता है ? हम तरह-तरह के बंधनों से पहले ही बँधे हैं, फिर प्रतिज्ञा का नवीन बँधन क्यों स्वीकार किया जाय ? ऐसा विचार करने वालों को समझना चाहिए कि पशु को यदि सदा के लिए खुला छोड़ दिया जाय तो वह जंगल में भी चला जा सकता है और वहाँ हिंसक पशुओं का शिकार हो सकता है। बन्धनमुक्त पशु को चोर भी चुरा कर ले जा सकते हैं। वह अनेक विपदाओं

में फँस सकता है। अतएव उसे हानि से बचाने के लिए भी बन्धन में बाँध रखने की आवश्यकता होती है और इसी में उसका हित निहित है। इसी प्रकार मनुष्य के जीवन में जब तक पाशविक वृत्तियाँ विद्यमान हैं और उनका समूल उन्मूलन नहीं हो गया है, तब तक उसे स्वेच्छास्वीकृत बंधनों को अपनाये रखने की आवश्यकता है। प्रतिज्ञा इसी प्रकार का एक प्रशस्त बन्धन है जो मनुष्य को असन्मार्ग से बचाता है। मन में जब दुर्बल भावना उत्पन्न होती है और उस दुर्बलता के कारण जब वह सन्मार्ग से विचलित होने लगता है, उस समय प्रतिज्ञा का बंधन उसे बल प्रदान करता है, संकल्प में दृढ़ता उत्पन्न करता है। प्रतिज्ञा के कारण सैकड़ों मनुष्य गिरते-गिरते सँभल गये, इतिहास इस तथ्य का साक्षी है। गांधीजी की जीवनी में भी इसी प्रकार की घटना का उल्लेख आया है। जैन मुनि के समक्ष विलायत जाते समय उन्होंने तीन प्रतिज्ञाएँ ग्रहण की थीं। उन प्रतिज्ञाओं की बदौलत ही वे अपनी पवित्रता की रक्षा कर सके थे। गांधीजी को महापुरुष और विश्वमान्य पुरुष बनाने में उन प्रतिज्ञाओं का भी बहुत बड़ा योग था, यह बात हमें भूलना नहीं चाहिए।

तो जब तक मनुष्य के अन्दर काम क्रोध आदि विकार रूपी चोर घुसे हुए हैं, तब तक उसे प्रतिज्ञा की आवश्यकता है ही।

जो जिस काम को करना तो नहीं चाहता, मगर न करने की प्रतिज्ञा भी नहीं लेना चाहता, समझना चाहिए कि उसके हृदय में पहले से ही कमजोरी मौजूद है। उसके संकल्प में दृढ़ता नहीं है। ऐसा ढिलमिल संकल्प वाला व्यक्ति कभी भी अपने निश्चय से गिर जाता है।

प्रतिज्ञा संकल्प में दृढ़ता उत्पन्न करती है और हृदय को

दुर्बलता को दूर करती है। अतएव प्रतिज्ञा अंगीकार करना अपने ही हित के लिए आवश्यक है।

स्थूलिभद्र स्वामी ने जो प्रतिज्ञा अंगीकार की थी, उस पर वे अत्यन्त दृढ़ थे। उन्होंने स्पष्ट कह दिया कि—अब मुझ पर विलास-पूर्ण हाव-भावों का जोर नहीं चल सकता। मैं संयम की प्रतिज्ञा से बंधा हुआ हूँ।

विवेक के अभाव में इस प्रकार की दृढ़ता टिक नहीं सकती। मनुष्य को विवेक के प्रकाश में देखना चाहिए कि मैं कहाँ हूँ? क्या हूँ? मुझे किस प्रकार रहना चाहिए? मैंने क्या संकल्प किया है? कैसी प्रतिज्ञा ग्रहण की है?

विवेकवान डूबने की जगह तिर जाता है और विवेकहीन तिरने की जगह भी डूब जाता है। आखिर एकान्त मकान में वेश्या का संसर्ग डूबने का ही स्थान है, परन्तु विवेक ने आड़े आकर बचा ही लिया। विवेक सहायक न हो तो मनुष्य ऐसे अवसर पर पागल हो जाता है।

दुनिया में विवेक बड़ी चीज है। विवेकवान् केवलज्ञान भी प्राप्त कर लेता है!

लोग कहते हैं—'अपुत्रस्य गतिर्नास्ति' अर्थात् जिसके बेटा नहीं होता उसे सद्गति नहीं मिलती। इसका सही अर्थ यही हो सकता है कि विवेक रूपी बेटे के उत्पन्न होने पर ही सद्गति की प्राप्ति होती है। असली बेटा विवेक ही है। जब तक वह उत्पन्न नहीं होता तब तक जीव संसार समुद्र में ही गोते खाता रहता है।

एक पिता ने मरते समय अपने बेटे को हिदायत की—बारह

महीनों में जब मेरी श्राद्धतिथि आवे तो एक पाड़े को मार कर मेरा श्राद्ध किया करना।

दुनिया में ऐसे-ऐसे भी मत हैं जिनमें हिंसा और अनाचार भी धर्माचरण का अंग माना जाता है। उस बेचारे को गुरु ही ऐसे मिले होंगे और मजहब भी ऐसा ही मिला होगा। इसी कारण उसके संस्कार ऐसे हीन थे कि अपने लड़के को भी घोर पाप करने की प्रेरणा करके मरा !

बुड्ढा मर गया और उसकी श्राद्धतिथि आई। तब बेटा एक पाड़ा लाया। उसने उसे मार कर कुटुम्बी जनों को भोजन कराया। दूसरे वर्ष और तीसरे वर्ष भी ऐसा ही किया। एक बार वह किसी काम से गाँव से बाहर गया था। उसकी पत्नी अकेली घर पर रह गई। औरत बदचलन थी। किसी दूसरे पुरुष के साथ उसका अनुचित संबंध था। जिस समय वह पुरुष उस औरत के पास था, उस समय उसका पति भी घर आ गया। किवाड़ बंद थे, मगर जोर का धक्का देने पर वह खुल गये। उसने भीतर का सारा हाल देख लिया।

ऐसे अवसर पर पति को क्रोध न आवे, यह कठिन है। मगर वह पुरुष क्रोध से पागल हो उठा। उसने अपनी तलवार उठाई और उस पुरुष को तलवार के घाट उतार दिया। स्त्री डर कर एक ओर भागी और इसने उसका पीछा किया। तब स्त्री ने गिड़गिड़ा कर कहा—मुझे मत मारो। अब मैं कभी ऐसा दुष्कर्म नहीं करूँगी। किसी प्रकार पति का क्रोध शान्त हो गया और उसने स्त्री को नहीं मारा।

मरते समय उस दुराचारी पुरुष के मन में आया हाय,

मैंने कैसा बुरा काम किया और उसका नतीजा भी मुझे हाथों-हाथ मिल गया।

कर्मो की गति बड़ी विचित्र होती है। इस ससार में कुछ पता नहीं चल सकता कि किस समय कैसी घटना घटती है? कर्मोदय की विचित्रता से वह पुरुष मर कर मारने वाले के पुत्र के रूप में उत्पन्न हुआ। इधर इस पुरुष ने उसे मार डालने के बाद लाश गड्ढा खोद कर गाड़ दी। यह घटना वह भूल गया।

नौ माह के बाद लड़के का जन्म हुआ। वह अपने लडके को खिलाता है, पिलाता है, प्यार करता है और आनन्द से रहता है। इस प्रकार लड़का करीब दो वर्ष का हो गया।

उस पुरुष की माता मौजूद थी और वह बड़ी लोभिन थी। उसने अपना सारा धन जमीन में गाड़ रक्खा था और जहाँ गाड़ रक्खा था वहीं खटिया डालकर सोया करती थी। उसका विचार था कि मरते समय अपने लड़के को धन बतला जाऊँगी, परन्तु वह बता नहीं सकी। यों ही मर गई। मरने के पश्चात् कुतिया के रूप में उसका नया जन्म हुआ।

उस धन पर ममता होने के कारण कुतिया उसी जगह बैठा करती थी, जिस जगह धन गड़ा हुआ था।

भाइयो! आखिरी समय में मनुष्य का ध्यान रहे तो ईश्वर में ही रहे। ईश्वर में ध्यान रहता है तो गति नहीं बिगड़ती।

हाँ, तो कुतियो प्रतिदिन वहीं आकर बैठती है। यथा समय उस बुड्ढे के श्राद्ध का दिन आ गया। उसका बेटा प्रतिवर्ष की भाँति पाड़ा लाया और उसका वध करके उसने कुटुम्बि-जनों को भोजन कराया। सब लोग जीम कर चले गये। कुतिया उस पाड़े को हड्डियाँ

चाटने लगी। यह देखकर इसने उसे मारना आरम्भ किया। उस समय उसका बालक उसकी गोद में था।

अचानक गोचरी के लिए उधर से एक विशिष्ट ज्ञानी मुनिराज निकले। वे उसके घर में जाने लगे पर शंका उत्पन्न हो गई। तब उन्होंने अपने ज्ञान का उपयोग लगाया। मालूम हुआ कि यहाँ तो पाड़े को हत्या करके भोजन तैयार किया गया है। कुछ विशेष उपयोग लगाने पर उन्हें उस घर संबंधी सम्पूर्ण वृत्तान्त ज्ञात हो गया। सहसा उनके मुख से निकल पड़ा-'अहो अकज्ज।' अर्थात् इस घर में तो बड़ा अकार्य हो गया है!

मुनिराज के यह शब्द घर के स्वामी ने सुन लिये। वह लौटते हुए मुनिराज के सामने आकर खड़ा हो गया और बोला-कहिए महात्मा, क्या अकार्य हो गया?

मुनिराज ने कहा-यह जान कर तुम्हें कोई लाभ नहीं होगा। रहने दो।

मगर गृहस्वामी न माना। उसके बार-बार अनुरोध करने पर मुनिराज ने कहा-भाई, बड़ा अकार्य हो गया है। तूने बाप की हत्या की है, माता को पीटा है और अपने दुश्मन को गले से लगा रक्खा है।

गृहस्वामी ने कहा-महाराज, मिथ्या-भाषण मत करो। मेरे पिता को मरे कई वर्ष हो चुके हैं। माताजी भी स्वर्ग सिधार चुकी है।

मुनिराज-देखो, जब तुम्हारे पिता की मृत्यु सन्निकट ही थी तो उसने पाड़ा मार कर श्राद्ध करने की बात कही थी। तुम उसके आदेशानुसार वैसा ही करते हो। मगर तुम्हें पता नहीं कि

आज श्राद्ध में जो पाड़ा मारा गया है, वह तुम्हारे पिता का ही जीव था।

गृहस्वामी ने दुखितचित्त होकर कहा—कैसे मानूं और कैसे विश्वास करूँ ?

मुनिराज—देख, तेरी माँ मर कर कुतिया हुई है।

गृहस्वामी—मगर प्रमाण क्या है ?

मुनिराज—जब तेरी माता का मरण हुआ तो उसका मन धन में था। धन में मन होने से वह मर कर कुत्ती हुई और उसी जगह बैठती है जहाँ धन गड़ा था।

गृहस्वामी ने सोचा— खोदने पर अगर धन निकल आवे तो मुनि का कहना सच होगा यह सोचकर उसने वह जमीन खोदी और धन निकल आया।

तब तक मुनिराज चले गये थे। मुनि की बात की सचाई का प्रमाण पाकर उसे मुनिराज पर बड़ी श्रद्धा उत्पन्न हुई। वह उनके स्थान पर गया और बोला-महाराज, कृपा करके यह भी बतलाइए कि मैं दुश्मन को कैसे प्यार कर रहा हूँ ? आपने तीसरी बात यही कही थी।

मुनिराज ने कहा—भाई, यह संसार बड़ा विचित्र है। इसमें शत्रु और मित्र का कोई ठिकाना नहीं है। जो बात तुम्हारे विषय मे कही गई है, वह तुम्हीं तक सीमित नहीं है। बहुतों के साथ ऐसा ही होता है। अतएव इन बातों को समझ कर विषाद न करके विवेक का ही अवलम्बन लेना चाहिए। देखो, जिस पुरुष ने तुम्हारी पत्नी के साथ दुराचार किया था और जो तुम्हारे हाथ से मारा गया था, वही यह पुरुष है जो तुम्हारे पुत्र के रूप में उत्पन्न हुआ है।

मुनिराज की यह वाणी सुनकर वह गहरे विचार में डूब गया। संसार की असारता उसे प्रत्यक्ष दृष्टि गोचर होने लगा। उसने लड़के को मुनिराज के पैरों में रखकर कहा—महाराज, हमारा सारा जीवन निष्फल ही गया। दया करके उद्धार का कोई मार्ग बतलाइए। अब तक सब डूबने का ही काम किया है!

गुरु की शक्ति बड़ी जबर्दस्त होती है। ठीक ही कहा है—

जब मिले गुरू गुणवान,

भ्रम सभी मनका टाले जी।

जब गुणवान् गुरु का संयोग मिलता है तो हृदय का समस्त भ्रम दूर हो जाता है। मगर गुरू होना चाहिए ज्ञानवान्। कहा गया है—

गु शब्दोऽन्धकारस्य, रु शब्दस्तद्विनाशनः।

'गुरु' शब्द में दो अक्षर हैं—गु और रु। गु शब्द अंधकार का वाचक है और रु शब्द उसके विनाश का वाचक है। अर्थ यह हुआ कि जो अज्ञानान्धकार का विनाश कर सकता है, वही गुरु पद का पात्र है। जिसने गंभीर चिन्तन और मनन किया है तथा तत्त्व के मर्म को पा लिया है, वही गुरु अज्ञान का विनाश कर सकता है। तत्त्व का रहस्य ऊपर-ऊपर से शास्त्र एवं पोथियाँ पढ़ लेने से ज्ञात नहीं होता, किन्तु चिन्तन मनन से होता है। पठित ज्ञान जब जीवन व्यवहार में व्यवहृत किया जाता है तभी ज्ञान सार्थक होता है। जो ज्ञान क्रिया हीन है, वह निष्फल है, ठीक उसी प्रकार जैसे ज्ञान बिना क्रिया निरर्थक है।

काल दोष से आजकल मनःपर्याय ज्ञानी और केवलज्ञानी नहीं होते। अवधिज्ञान का विच्छेद तो नहीं बतलाया गया है, तथापि

उसे प्राप्त करने के लिए जिन गुणों की आवश्यकता हैं, वे आज दुर्लभ हैं। किस प्रकार के गुण होने पर अवधिज्ञान प्राप्त होता है, यह अधिकार दशाश्रुतस्कंधसूत्र मे वर्णित है। अवधिज्ञान उसी साधक को प्राप्त होता है जिसका त्याग और प्रत्याख्यान उच्च कोटि का हो और निर्मल हो। जिसके स्वभाव में झूठ-कपट की बहुलता होती है, उस आत्मा को यह ज्ञान प्राप्त नहीं हो सकता।

यद्यपि अवधिज्ञान का आविर्भाव अवधिज्ञानावरण कर्म के क्षयोपशम रूप अन्तरंग कारण से होता है, किन्तु त्याग, तपस्या व्रत और नियम आदि बाह्य कारण मिलें तो क्षयोपशम होता है, अन्यथा नहीं।

बड़े जवाहरलालजी महाराज कहते थे कि एक मुनि ने कंजेड़े में संथारा किया था और उन्हें अवधिज्ञान हो गया था। श्रावकों ने उनसे पूछा-हमारे यहाँ कोई साधु आज तक नहीं पधारे हैं। भविष्य में कोई पधारेंगे या नहीं? उन्होंने कहा-आएँगे। और फिर वहाँ पूज्य हुक्मीचन्दजी महाराज पधारे।

बड़े जवाहरलालजी म० ने अपने मन से ही संथारा कर लिया था। उन्हें अपनी मृत्यु का पहले से ही आभास हो गया था। उन्होंने किसी भी भाई-बहन से उस बात का जिक्र नहीं किया। नन्दलालजी म०, देवीलालजी म० और मेरे गुरु हीरालालजी म० को भी संथारे का पता नहीं था। जब उन्होंने आहार करने के लिए निवेदन किया तो उन्होंने उत्तर में सिर्फ यही कहा-आहार तो बहुत किया। अब आहार करके क्या करना है?

श्री बड़े जवाहरलालजी महाराज वास्तव में महापुरुष थे। पूज्य उदयसागरजी म० भी उन्हें अपना गुरु कह कर पुकारते थे। उन महापुरुष की कहाँ तक प्रशंसा की जाय?

श्री देवीलालजी म० ने उनसे पुनः कहा-आप आहार नहीं करेंगे तो क्या संथारा कर चुके हैं ?

मौनं स्वकृतिलक्षणम्, इस न्याय के अनुसार देवीलालजी म० समझ गये कि मुनिवर ने संथारा अंगीकार कर लिया है।

तदनन्दर आपसे सम्प्रदाय के विषय में पूछा गया-जब तक आपका शरीर विद्यमान है, तब तक तो कोई बात ही नहीं है, मगर आपके पश्चात् सम्प्रदाय की व्यवस्था कैसे की जाय ?

मुनिराज बोले—छह महीने तक राह देखना उसके बाद जैसा उचित समझो, करना।

इन महापुरुष की विशेषताओं का वर्णन करना कठिन है। उनमें अनगिनती विशिष्टताएँ थीं। एक बार वह बोले-तुम जो बात संवत् १६५६ में करना चाहते हो, वह संवत् १९६० में होगी।

वह कह गये हैं कि संवत् २०३० तक सारी फिर्केबंदी समाप्त हो जाएगी और सब एक हो जाएँगे।

यह बात वे ज्योतिष के आधार पर नहीं, अपने अनुभव के आधार से कहते थे। उन्होंने जो कहा, सब सत्य साबित हुआ और मेरा विश्वास है कि भविष्य में भी उनका कथन सत्य ही सिद्ध होगा।

तात्पर्य यह है कि ज्ञानवान् गुरु के बिना भ्रम दूर नहीं हो सकता।

हाँ, तो श्राद्ध करने वाले उस पुरुष ने भूतकाल की घटनाओं का प्रत्यक्ष की भाँति वर्णन करने वाले मुनिराज के पैर पकड़ कर

कहा--गुरुदेव, दया करो। मुझ अज्ञानी को उद्धार का मार्ग बतलाओ। मैं अज्ञान के गहन अंधकार में निमग्न होकर इधर-उधर ठोकरें खाता-फिरता हूँ। मुझे प्रकाश की किरण प्रदान करो। मुझे अपने कल्याण का मार्ग जानना है। कृपा कर वह बतलाइए। मैं किस प्रकार अनार्य वृत्ति से छुटकारा पाकर आर्य वृत्ति अंगीकार करूँ ?

मुनिराज ने कहा-भाई, पापी से पापी जीव का उद्धार करने की क्षमता धर्म में ही है। धर्म के अतिरिक्त मनुष्य का उद्धार और उत्थान किसी अन्य से नहीं हो सकता। धर्म इस लोक को भी आनन्दमय बना देता है और परलोक को भी। वह अनन्त भविष्य को मंगलमय बनाने की सफल कुंजी है।

कई लोगों का खयाल है कि धर्म जीवन की सरसता को कम कर देता है और उसे नीरस बना देता है। मैं कहता हूँ, ऐसे लोगों ने धर्म का आचरण करके देखा ही नहीं है। उन्होंने बिना किसी आधार के और बिना किसी अनुभव के, यों ही अपनी धारणा बना ली है। वह धारणा भ्रमपूर्ण है। धर्म के विषय में समीचीन मत व्यक्त करने का अधिकार उन्हीं को है, जिन्होंने अपने जीवन में धर्म का आचरण किया है। जिसने मिस्री चखी ही नहीं, वह मिस्री के स्वाद के सबंध में अपना सही मत प्रकट नहीं कर सकता। कदाचित् ऐसा करने की धृष्टता करता है तो उसके मत का कोई मूल्य नहीं है। वह निराधार प्रलाप मात्र है।

जिनका जीवन सांसारिक दृष्टि से अत्यन्त सरस था, और सब प्रकार के भोग-विलास जिन्हें प्राप्त थे, जो उत्तम से उत्तम वैषयिक सुख की गोद में क्रीड़ा करते थे जिनका अन्तःपुर देवांगनाओं का भी उपहास करने वाली सुन्दरी-सलोनी रमणियों से

भरा था और जो अपार ऐश्वर्य के स्वामी थे, वे किस प्रेरणा से मुनि बने ? अगर भ्रम में पड़ कर मुनि बन गये थे तो फिर गृहस्थावस्था में क्यों नहीं चले गये ? उन्होंने दूसरों को भी मुनि-पद अंगीकार करने की प्रेरणा क्यों की ?

रस का अर्थ अगर आनन्द है तो जो आनन्द त्याग में है, वह भोग में संभव ही नहीं। भोग तो अतृप्ति रूपी मानसिक व्याधि का क्षणिक और मूर्खतापूर्ण प्रतीकार है। यह सच्चा आनन्द नहीं है। सच्चा आनन्द वही है जो स्वाधीन हो, परापेक्ष न हो और जिसका उद्गम भीतर से हुआ हो। इस प्रकार का आनन्द धर्म से ही प्राप्त होता है।

धर्म व्यक्ति को ही नहीं, समाज को, देश को और अन्ततः अखिल विश्व को शान्ति प्रदान करता है। आखिर समाज हो या देश, सब का मूल तो व्यक्ति ही है और जिस प्रणालिका से व्यक्ति का उत्कर्ष होता है, उससे समूह का भी उत्कर्ष क्यों न होगा ?

कई लोग धर्म का संकीर्ण अर्थ करते हैं, परन्तु उसका दायरा बहुत विशाल है। धर्म में समस्त शिष्टाचार, सदाचार, नीति और कर्त्तव्य का समावेश तो होता ही है, साथ ही व्यक्तिगत साधना भी उसमें अन्तर्गत है, जिसका लक्ष्य मोक्ष की प्राप्ति करना है।

तो मुनिराज बोले-भाई, अपने पापों का प्रक्षालन करना चाहते हो तो धर्म की पावनी सुरसरिता में अवगाहन करो। धर्म ही ऐसा तत्त्व है जो पापी से पापी जीव का भी उद्धार कर सकता है। बालहत्या या गोहत्या जैसे भीषण पाप करने वाले भी जब धर्म की शरण में आते हैं तो उनका उद्धार अवश्य हो जाता है। कहा है—

पद्म प्रभु पावन नाम तिहारो, पतित उधारन हारो।
जदपि धीवर भील कसाई, अति पापिष्ठ जमारो,
तदपि जीवहिंसा तज प्रभु भज पावै भवेदधि पारो ॥

भाइयो ! जो गौ की हत्या, ब्राह्मण की हत्या, स्त्री की हत्या और बालकों की हत्या करने वाला है, वह पापी से पापी-बहुत बडा पापी गिना जाता है। वह भी अगर भगवान के वचनों का आराधन कर ले तो पवित्र हो जाता है। भगवान् का नाम ही उसकी आत्मा को पवित्र करने वाला है। कहा भी है—

आस्तां तव स्तवनमस्तसमस्तदोषम्,
त्वत्संकथाऽपि जगतां दुरितानि हन्ति।

और—

त्वत्संस्तवेन भवसन्ततिसन्निबद्धं,
पापं क्षणात् क्षयमुपैति शरीरभाजाम्।
आक्रान्तलोकमलिनीलमशेषमाशु,
सूर्यांशुभिन्नमिव शार्वरमन्धकारम् ॥

आचार्य श्रीमानतुंग कहते हैं कि-हे प्रभो ! आपके निर्दोष स्तवन का तो कहना ही क्या है, आपकी कथा भी जगत् के समस्त पापों का नाश कर देती है। तथा भव-भवान्तर में उपार्जन किया हुआ पाप आपकी स्तुति करने से क्षण भर में उसी प्रकार नष्ट हो जाता है, जिस प्रकार समस्त लोक में व्याप्त, भ्रमर के समान कृष्ण वर्ण वाला रजनी का अंधकार सूर्य की किरणों से तत्काल ही समाप्त हो जाता है।

राजा प्रदेशी इस कथन की सत्यता का ज्वलन्त उदाहरण है। सिवाय नरक के उसके लिए अन्यत्र कहीं जगह न थी। उसके हाथ रुधिर से लिप्त रहते थे। वह खरबूजों और तरबूजों की तरह मनुष्यों को चीर डालता था। दया, ममता किसे कहते हैं, वह जानता ही नहीं था। उसका हृदय फौलाद के समान कठोर था। वह पक्का नास्तिक था। उसके विचार से न आत्मा का अस्तित्व था और न स्वर्ग-नरक ही थे। जब परलोक ही नही था तो उसे डर किस बात का था? वह खुल कर पाप किया करता था। साधु-संत उसके देश में जाने का साहस नहीं कर सकते थे। वह धर्मात्माओं को मूढ़ और गँवार समझता था। तात्पर्य यह है कि वह घोर अधर्मी, नास्तिक और पापी था। हिंसा उसका खेल था। कोई पाप नहीं था जिसे वह अकर्त्तव्य मानता हो।

परन्तु एक बार उसे भगवान् की वाणी का अमृत पोने का सुअवसर मिल गया। केशी श्रमण जैसे समर्थ पुरुष उसके नगर में जा पहुँचे। उन्होंने उसे भगवान् की वाणी सुनाई। केशी स्वामी महान् प्रतिभाशाली और तेजस्वी सत थे। उन्होंने राजा प्रदेशी को कौशल के साथ समझाया और वह समझ गया। उसकी भावना परिवर्त्तित हो गई। परिणाम यह हुआ कि उसे देवगति प्राप्त हुई। यह विवेक का प्रभाव है।

विवेक के अभाव में साधुपन लेकर भी मनुष्य डूब जाता है और श्रावकव्रत लेकर भी डूब जाता है। विवेक के बिना कोई भी धर्म टिक नहीं सकता।

विवेक वह आन्तरिक प्रदीप है जो मनुष्य को सत्पथ प्रदर्शित करता है और जिसकी रोशनी में चलकर मनुष्य सकुशल अपने लक्ष्य तक जा पहुंचता है। विवेक की बदौलत सैकड़ों अन्यान्य गुण

स्वतः आ मिलते है। विवेक मनुष्य का सब से बड़ा सहायक और मित्र है। अतएव विवेक की आराधना करो। जो विवेक की आराधना करेंगे, उनका परम कल्याण होगा और उन्हे आनन्द ही आनन्द प्राप्त होगा।

ब्यावर (अजमेर)
२३-१०-४७
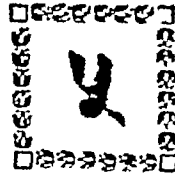
स्थूल बनाम सूक्ष्म
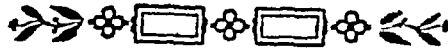
स्तुतिः—

त्वत्संस्तवेन भवसंततिसन्निबद्धं,
पापं क्षणात्क्षयमुपैति शरीरभाजाम् ।
आक्रांतलोकमलिनीलमशेषमाशु,
सूर्यान्शुभिन्नमिवशार्वरमन्धकारम् ॥

भगवान् ऋषभदेव की स्तुति करते हुए आचार्य महाराज फर्माते हैं-हे सर्वज्ञ, सर्वदर्शी, अनन्तशक्तिमान्, पुरुषोत्तम ऋषभदेव भगवान्! कहाँ तक आपकी स्तुति की जाय? हे प्रभो! कहाँ तक आपके गुण गाये जाएँ?

इस दृश्य स्थूल जगत् को सभी देख लेते हैं, परन्तु इसके पीछे जो सूक्ष्म जगत् है, उसकी ओर विरले ही दृष्टिपात करते हैं वास्तव में देखा जाय तो स्थूल, सूक्ष्म पर ही टिका है और सूक्ष्म ही स्थूल का कारण है। आपका यह स्थूल-दृश्य शरीर कहाँ से आया

है ? कैसे उत्पन्न हुआ है ? विचार करने पर पता चलेगा कि इस शरीर का कारण भी सूक्ष्म शरीर है। उस सूक्ष्म शरीर की बदौलत ही जिसे शास्त्रीय शब्द में कार्मण शरीर कहते हैं, इस शरीर की सत्ता है। कार्मण शरीर ने ही इस दृश्य शरीर को उत्पन्न किया है और उसी कारण यह टिका हुआ है। इसी प्रकार सब स्थूल पदार्थों का आधार सूक्ष्म तत्त्व ही है।

इससे यह बात स्पष्ट हो जाती है कि स्थूल को समझने के लिए सूक्ष्म को समझना अत्यावश्यक है। कौन व्यक्ति किस समय, किस प्रकार की आन्तरिक प्रेरणा से प्रेरित होकर क्या कार्य कर रहा है, यह एक महत्त्वपूर्ण रहस्य है। हम देखते हैं कि एक ही व्यक्ति कभी-कभी मधुर वाणी का प्रयोग करता है। ऐसा जान पड़ता है कि उसके मुख से फूल झर रहे हैं या अमृत की वर्षा हो रही है। इसी प्रकार उसकी प्रवृत्ति भी आदर्श, नीतियुक्त, सभ्यतापूर्ण और धर्ममय होती है। परन्तु दूसरे समय वही व्यक्ति ठीक विपरीत रूप से हमारे सामने आता है। उसकी वाणी में विष की कटुकता होती है। प्रतीत होता है कि वह जैसे बाणों की वर्षा कर रहा है। उसके व्यवहार में भी विरूपता देखी जाती है। इस प्रकार पूर्ववर्ती और पश्चाद्वर्ती व्यवहार में कोई संगति या समन्विति दृष्टिगोचर नहीं होती। तब मन में स्वतः प्रश्न उठता है—आखिर इस विरूपता का इस परिवर्त्तन का कारण क्या है ?

कहा जा सकता है कि बाह्य परिस्थितियाँ या बाहर का वातावरण उसे प्रभावित करता है और इसी कारण वह एक ही व्यक्ति विभिन्न देश कालों में परस्पर असंबद्ध एवं असंगत प्रवृत्तियाँ करता है। मगर ऐसा मान लेने पर भी प्रश्न की परिसमाप्ति नहीं होती। परिस्थिति या वातावरण बाह्य कारण ही माना जा सकता है और

सिर्फ वाह्य कारण किसी भी कार्य के लिए पर्याप्त कारण नहीं है। अन्तरंग और वहिरंग कारणों का सयोग होने पर ही कार्य की उत्पत्ति होती है।

तव फिर एक ही मनुष्य के देश काल के भेद से होने वाली विरोधी प्रवृत्तियों का कारण-अन्तरंग कारण क्या है? विचार करने पर विदित होगा कि वह आन्तरिक कारण है—मानसिक संकल्प, मनोवेग, अध्यवसाय अथवा मानसिक परिणति। आसपास का वातावरण मनुष्य की मनोवृत्ति को प्रभावित करता है और मनोवृत्ति वाह्य व्यापारों को प्रभावित करती है। जिसका मन सवल है और जिसके मन को वातावरण प्रभावित नहीं कर पाता, वह मनुष्य प्रतिकूल वातावरण में भी अपनी विशिष्टता को स्थिर रखता है। यही कारण है कि एक-से वातावरण और एकसी परिस्थिति मे भी विभिन्न मनुष्यों की विचार धाराएँ और तज्जनित प्रवृत्तियाँ एक समान नहीं होती। उत्तेजना का कारण होने पर एक मनुष्य उत्तेजित हो उठता है और दूसरा अपनी शान्ति को कायम रखता है। किसी दयनीय दृश्य को देख कर एक का हृदय दया से द्रवित हो उठता है और दूसरे का वज्रवत् कठोर ही वना रहता है।

तात्पर्य यह है कि मनुष्य के भीतर अदृश्य रूप से काम करने वाले आन्तरिक अध्यवसाय ही वाहर के व्यापारों के जनक होते हैं। इस दृष्टि से देखने पर यह भी स्पष्ट हो जायगा कि वाह्य व्यापारों की अपेक्षा मानसिक व्यापार अधिक महत्त्वपूर्ण है। इसी कारण शास्त्रकारों ने क्रियाओं का वर्गीकरण करते समय आध्यात्मिक क्रिया को भी मुख्य स्थान दिया है।

यह आध्यात्मिक क्रिया है? मन में अनेक प्रकार के संकल्प करना, निष्प्रयोजन तरह-तरह के कुविचार करना, दूसरों को कष्ट

देने का विचार करना, जिनसे दूसरों को कष्ट पहुँचने की संभावना हो, वैसे कार्य करने का संकल्प करना, उन्हें सफल बनाने के लिए युक्ति-प्रयुक्ति सोचना, यह सब आध्यात्मिक क्रिया है। आर्त्तध्यान की समस्त क्रियाओं का आध्यात्मिक क्रिया में समावेश होता है।

आर्त्तध्यान की क्रियाएँ दूसरों के अतिरिक्त अपनी आत्मा के लिए भी क्लेशकारी सिद्ध होती हैं। यद्यपि सभी जीव अपने-अपने कृत कर्म के अनुसार ही फल भोगते हैं और कर्मों के फल को कोई रोक नहीं सकता, और न कोई किसी के कर्मफल में हीनता-अधिकता उत्पन्न कर सकता है, फिर भी अज्ञानी जीव दूसरों को मनः कल्पित दुःख पहुँचाने की कोशिश करता है।

जो मनुष्य अपने कर्मों के फल को नहीं रोक सकता, जो अपने कर्म के फल को भोगता हुआ स्वयं रोता और हंसता है, जो स्वयं बुरी तरह कर्मों की बेड़ियों में जकड़ा है, वह जब दूसरों की आत्मा का ठेकेदार बनता है तो विवेकी जनों के आश्चर्य की सीमा नहीं रहती!

एक बात और है। कर्म हमारे अधीन तो हैं नहीं कि हमारी आज्ञा में चलें और उनसे जैसा कहा जाय वैसा ही वे करें। दूसरे पर अंगार फेंकने वाला मनुष्य उसे जलाना चाहता है, परन्तु दूसरे का यदि शुभोदय होता है तो उस अंगार से उसे कुछ भी हानि नहीं पहुंचती। हाँ, अंगार फेंकने वाले का हाथ पहले ही जल जाता है।

यही दृष्टान्त मनुष्य के उन संकल्प-विकल्पों पर लागू होता है, जो व्यर्थ ही आत्मा किया करती है। उन संकल्पों एव दुष्ट अध्यवसायों का प्रत्यक्ष परिणाम यही होता है कि आत्मा गाढ़तर कर्म-बन्धनों में फँसती चली जाती है और उनका फल भोगते समय अधिकाधिक वेदनाओं तथा व्यथाओं का पात्र बनती है। अतएव

साधक पुरुष के लिये भी और साधारण मानवों के लिए भी यह आवश्यक है कि अपने मन को नियंत्रित किया जाय, प्रबल बनाया जाय पवित्र बनाया जाय और उसमें कुविकल्प, कुतर्क और कुविचार न उत्पन्न होने दिये जाएं।

जो कर्म परिणाम में महान् कष्ट देने वाले हैं, उनसे बचने के लिए हमें निरन्तर कितना सावधान रहना चाहिए, यह कहने की आवश्यकता नहीं। फिर विना प्रयोजन, निरर्थक ही कुसंकल्प क्यों किये जाएँ? आखिर उनके कारण जो अशुभ कर्म का बंध होता है, वह बड़ी कठिनता से भोगना पड़ता है। उसे भोगते समय कोई रोता है, कोई विलाप करता है, कोई छाती और मस्तक कूटता है, कोई अफीम खाकर तो कोई गले में फंदा लगा कर आत्मघात करने के लिए उद्यत हो जाता है, जिससे कि असह्य दुःख से छुटकारा मिल जाय! ऐसे भोले प्राणी को पता नहीं कि मरने पर भी कर्म जीव का पिण्ड नहीं छोड़ता। कर्म का संबंध जीव के साथ है, शरीर के साथ नहीं। अतएव शरीर बदल लेने पर भी कर्म का फल नष्ट नहीं हो सकता। वह तो उदय में आकर ही पीछा छोड़ता है। जिसके वस्त्र आग से जल रहे हैं, वह कहीं भी क्यों न दौड़ा जाय, आग उसके साथ ही जायगी, वह पीछा नहीं छोड़ेगी।

यही बात कर्मों के सबंध में है। आत्मा के साथ लगी हुई कर्मों की आग भव-भव में, पर्याय-पर्याय में, सब कालों में और सब स्थानों में आत्मा को जलाती ही रहती है। आत्मा का इस प्रकार उत्पन्न होकर इतस्ततः परिभ्रमण करना ही संसार है। इस तरह कर्म की ज्वालाओं से आक्रान्त जीव संसार में कहीं भी शान्ति नहीं पा सकता। शान्ति मिले तो मिले, कैसे? कर्मों ने आत्मा में आग लगा रक्खी है। जहाँ आग है वहाँ शान्ति कहाँ? शीतलता कहाँ?

वहाँ तो संताप, अशान्ति एवं बेचैनी ही हो सकती है !

निस्सन्देह आत्मा का नैसर्गिक स्वरूप शान्तिमय है और वह उसे प्राप्त भी कर सकता है, परन्तु उसे प्राप्त करने के लिए आन्तरिक संताप को नष्ट करना होगा। शुद्ध और निर्मल ध्यान द्वारा अशान्ति के कारणों का उन्मूलन करना होगा। शुद्ध आत्म स्वरूप के निर्मल सरोवर में अवगाहन करना होगा। ऐसा करने पर जो शान्ति प्राप्त होगी, वह शाश्वत, स्वाभाविक और स्थिर होगी। उसके बाद कभी अशान्ति का उद्भव नहीं होगा।

राख किसी समय अंगार के रूप में थी। परन्तु जब अंगार की दाहकता नष्ट हो गई और राख पर्याय का आविर्भाव हो गया, तो फिर कभी वह अंगार का रूप धारण नहीं करती। इसी प्रकार कर्म जनित अशान्ति जब एक बार पूरी तरह नष्ट हो जाती है, आत्मा से छूट जाती है, तो वह पुनः उत्पन्न नहीं होती। उस समय आत्मा में अटल शान्ति का साम्राज्य स्थापित हो जाता है। वह आत्मा अपने स्वाभाविक स्वरूप में स्थिर हो जाती है। यही आत्मदशा परमात्मदशा कहलाती है।

शान्ति प्राप्त करने की प्रधान शर्त है समभाव की जागृति। अनुकूल और प्रतिकूल संयोगों के उपस्थित होने पर हर्ष और विषाद का भाव उत्पन्न न होना और राग द्वेष की भावना का अन्त हो जाना समभाव है। जितने जितने अंशों में, अन्तःकरण में समभाव की वृद्धि होती जायगी और विषमभाव विलीन होता जायगा, निश्चय ही शान्ति की अनुभूति भी उसी परिमाण में बढ़ती जायगी। समभाव के अभाव में शान्ति मृगमरीचिका मात्र है। वह प्राप्त हो नहीं सकती।

पर संसार में कितने ऐसे मनुष्य है जो संपत्ति और विपत्ति

में लुब्ध और क्षुब्ध नहीं होते ? जो सम्पत्ति पाकर हर्ष में फूल न उठें और उसका नाश होने पर मुरझा न जाएँ ? कहा भी है—

सम्पदि यस्य न हर्षो, विपदि विषादो रणे च धीरत्वम् ।
तं भुवनत्रयतिलकं, जनयति जननी सुतं विरलम् ॥

अर्थात्-धन पाकर फूल कर कुप्पा न हो जाने वाले और उसका नाश होने पर न रोने वाले, युद्ध में स्थिर रहने वाले विरले पुत्र को ही माता जन्म देती है। मगर वह विरला पुत्र ही भुवनत्रय का तिलक बनता है-तीनों जगत में अलकार रूप माना जाता है। सारांश यह है कि धन को देखकर मुँह में पानी लाने वाला और उसका नाश होने पर रोने वाला तो सारा संसार है।

इस संबध में मैं एक प्रश्न पूछ लेना अनुचित नहीं समझता। वह यह है कि जब आपने कमाया था तो हँसते क्यों थे ? और जब गँवाया है तो रोते क्यों हो ? क्या पहले कमाया हुआ धन तुम्हारा था ? यदि हाँ, तो फिर उसका कमाना क्या ? अगर तुम्हारा नहीं था तो अब रोते क्यों हो ? जो चीज तुम्हारी नहीं थी उसके चले जाने पर रोना क्यों ? और उसके आने पर प्रसन्नता भी क्यों ? धन का तो स्वभाव ही यह है—

कह-गिरधर कविराय और यह सब घट तौलत ।
पाहुन निश-दिन चार, रहत सबही के दौलत ॥

धन तो चार दिन का मेहमान है। आना और फिर चला जाना उसका स्वभाव है। आज तक वह असंख्यों के पास आया और चला गया, पर किसी का होकर नहीं रहा। तुम्हारे पास भी वह स्वभावानुसार आया था और स्वभावानुसार ही चला गया।

वह अपने स्वभाव पर कायम रहा और तुम अपना स्वभाव भूल गये। आने पर इतराने लगे और जाने पर रोने लगे। दोनों अवस्थाओं में तुम अपने कर्त्तव्य से चुके।

जो दुःख से डरता है उसे अपना कर्त्तव्य नहीं भूलना चाहिए। अपने पापों के फलस्वरूप इस जीवन में सुख की आशा कम रखनी चाहिए और दुःख सहने के लिए धैर्यपूर्वक कटिबद्ध रहना चाहिए। संसार में रहते हुए भी भव भ्रमण को समाप्त करने का काम करते रहना चाहिए। गृहस्थाश्रम एकान्ततः पापाश्रम ही है, ऐसा न समझ कर धर्म का आचरण करते जाना चाहिए। धर्म ही समस्त सुखों का मूल है। किसी वृक्ष को हरा भरा रखने के लिये वृक्ष की डाली डाली और पत्ते-पत्ते पर पानी सींचने की आवश्यकता नहीं होती। जड़ मे पानी सींच देने से सभी शाखाएँ और सभी पत्ते हरे-भरे बने रहते हैं। इसी प्रकार अगर आप धर्म का ध्यान रक्खोगे तो आपके सभी कार्य सफल होते रहेंगे। सुख में और दुःख में समान भाव से धर्म को समक्ष रखने वाला पुरुष ही सच्चा धर्मनिष्ठ है-समभावी है। दृढ़ विश्वास रक्खो कि धर्म का वज्र कवच धारण कर लेने पर बड़ी से बड़ी आपत्तियाँ भी मनुष्य को व्यथित नहीं कर सकती।

इस प्रकार यह बात स्पष्ट है कि स्वर्ग-मोक्ष की कुंजी मनुष्य के अपने ही हाथ में है। उसे बाहर कहीं खोजने की आवश्यकता नहीं है। कहा भी है—

मन एव मनुष्याणां कारणं बन्धमोक्षयोः।

संसार और मोक्ष मनुष्यों के मन की प्रवृत्तियों पर ही अवलम्बित है। मन के कुतर्क, कुसंकल्प और कुविचार और दूसरे

शब्दों में आर्त्तध्यान एवं रौद्रध्यान संसार के प्रधान कारण हैं। इनके विपरीत धर्मध्यान और शुक्लध्यान मोक्ष के कारण हैं। आप लोग सामायिक में भी प्रतिदिन कहते हो–'आर्त्तध्यान रौद्रध्यान ध्याया हो, धर्मध्यान और शुक्लध्यान न ध्याया हो तो तस्स मिच्छा मि दुक्कडं।' जब आर्त्तध्यान करते हो तभी तो 'मिच्छा मि दुक्कडं' देते हो न ? जिसका उधार लाओगे, उसे भुगतान भी करना पड़ेगा। और जो अपना ऋण खुशी से चुका देता है, उसी को साहूकार कहते हैं। छह काय के जीवों की निरन्तर विराधना करते रहते हो, हेय-उपादेय का जरा भी विचार नहीं करते, तुच्छ और क्षणिक सुख के लिए बड़े से बड़ा अनर्थ करने में भी संकोच नहीं करते, तो इतना बड़ा कर्ज चुकाने के लिए तुम्हें सदैव तैयार रहना चाहिए। जो कर्ज लेते समय अपनी हैसियत का विचार नहीं करता, उसे चुकाते समय क्यों घबराना चाहिए ? क्यों रोना चाहिए ? लेना और देना तो परस्पर का व्यवहार है।

भाइयो ! जब तुम्हारे सिर पर कोई दुःख आ पड़े, विपत्ति तुम्हारे सामने अट्टहास करती हुई खड़ी हो, तो तुम्हें धैर्य धारण करना चाहिए। सोचना चाहिए कि संसार में बड़े-बड़े राजा-महाराजाओं पर भी घोर से घोर मुसीबतें पड़ी हैं, महान् सन्तों-महात्माओं को भी लोमहर्षक संकटों का सामना करना पड़ा है। उनकी तुलना में तुम्हारा दुःख क्या चीज है ? कुछ भी तो नहीं ! और ऐसा सोच कर तुम्हें अपने मन पर नियंत्रण रखना चाहिए। जिस दुःख को सहना ही पड़े, चाहे हँसकर सहो या रोकर सहो, मगर सहन किये बिना छुटकारा ही नहीं है, उसे हँसकर ही क्यों नहीं भोग लेते ? ऐसा करने से दुःख की कटुता और उग्रता की मात्रा कम हो जायगी और उसकी परम्परा न चल सकेगी, अर्थात् दुःख के समय आर्त्तध्यान न करके समभाव धारण करोगे तो आगे के लिए

अशुभ कर्मों के बंध से बच जाओगे और पूर्वबद्ध कर्म से छुटकारा पा लोगे। आर्त्तध्यान करोगे तो क्या पाओगे? प्रथम तो दुःख भोगते समय ही आर्त्तध्यान के कारण वह दुःख अत्यन्त दुस्सह प्रतीत होगा उसकी उग्रता बढ़ जायगी। दूसरे, तुम्हारी सहनशक्ति का ह्रास हो जायगा। तीसरे, भविष्य के लिए पुनः अशुभ कर्मों का बंध होगा। अतएव जब दुःख सहना अनिवार्य हो तो हिम्मत रक्खो दृढ़ता रक्खो, समभाव को मत खोओ। कहा भी है—

सुखी सुखाधिकान् पश्येत्, दुःखी पश्येत् दुःखाधिकान्।
आत्मानं हर्ष शोकाभ्यां, शत्रुभ्यामिव नार्पयेत् ॥

अर्थात्-जब तुम्हें सुख मिला हो तो फूल मत जाओ, प्रत्युत अपने से अधिक सुखी जीवों की तरफ दृष्टि दौड़ाओ और तुलना करके देखो कि उनके सुख के सामने तुम्हारा सुख किस बिसात में है? इस प्रकार अपने समभाव को रक्षा करो। और जब दुःख आ पड़े तो अपने से अधिक दुखी जनों को देखो और विचार करो कि उनकी अपेक्षा तुम कम दुखी हो और इस प्रकार सान्त्वना प्राप्त करके समताभाव की रक्षा करो। वस्तुतः हर्ष और शोक दोनों ही आत्मा के समभाव रूपी धन का अपहरण करने वाले शत्रु हैं। दोनों से अपने आपको बचाओ। अपनी आत्मा को किसी के अधीन न होने दो। प्रत्येक दशा में अपना समभाव जगाये रक्खो।

अकसर देखा जाता है कि मनुष्य सुख के समय अभिमान से फूल उठता है। इसके अतिरिक्त भी जब उसे किसी विशिष्ट वस्तु की प्राप्ति हो जाती है तो वह मान के मद में मतवाला बन जाता है। मगर मान करना भी महापाप है। मान के कारण होने वाली क्रिया मानप्रत्यया कहलाती है। मान या अभिमान के आठ प्रकार

हैं—(१) ज्ञान का अभिमान करना (२) ख्याति का अभिमान करना (३) कुल का अभिमान करना (४) जाति का अभिमान करना (५) बल का अभिमान करना (६) ऐश्वर्य (ऋद्धि विभूति) का अभिमान करना (७) तपस्या का अभिमान करना और (८) अपने देह का अभिमान करना।

थोडा-सा ही विचार करने पर पता चल जायगा कि जिन बातों का अभिमान किया जाता है, वह सब कर्मों के उदय या क्षयोपशम से मिलनी वाली चीजें हैं। इन सब की प्राप्ति कर्मों के अधीन है। तो जिसकी प्राप्ति दूसरे के अधीन है, उसके लिए अभिमान करना क्या उचित है ? कर्म आत्मा के शत्रु हैं। किसी भी स्थिति में कर्मों के अधीन होना उचित नहीं।

इसके अतिरिक्त, विचार करोगे तो पता चलेगा कि कर्मों की कृपा से जो कुछ आपको मिला है, वह क्या अभिमान करने योग्य है ? उदाहरण के लिए पहले ज्ञान को ही लीजिए। आत्मा अनन्तज्ञान का अक्षय भंडार है। उसे ज्ञानावरण कर्म ने आच्छादित कर रक्खा है। थोड़ा-सा क्षयोपशम हुआ और आपको कुछ ज्ञान मिल गया। पर यह मिला हुआ ज्ञान, आपके स्वाभाविक ज्ञान-की तुलना में अत्यन्त तुच्छ है, नगण्य है। जैसे कोटि-कोटि सूर्यों के प्रकाश के समक्ष जुगनू का प्रकाश किसी गिनती में नहीं, उसी प्रकार आत्मा के स्वाभाविक ज्ञान के सामने आपका क्षयोपशम जनित ज्ञान किसी गणना में नहीं। फिर उसे पाकर अभिमान कैसा ? प्राप्त-ज्ञान की सार्थकता तो अपने असली ज्ञानवैभव को पहचानने में और वर्त्तमान कालीन अज्ञान दशा को समझने में है। अतएव प्राप्त ज्ञान से अपने अज्ञान को समझो और जो ज्ञान प्राप्त करना शेष है, उसे प्राप्त करने के लिए उद्यत हो जाओ। उस पर अहंकार न करो, क्योंकि वह अहंकार करने योग्य नहीं है।

जो बात ज्ञान के विषय में है, वही ख्याति आदि के विषय में भी समझनी चाहिए। संसार बहुत बड़ा है। यहाँ एक से एक बढ़ कर प्रख्यात पुरुष विद्यमान हैं फिर काहे को तू ख्याति का अभिमान करता है ?

कई लोग कुल और जाति का अभिमान करते हैं और दूसरों को कुलहीन एवं जातिहीन समझ कर अपमानित करते हैं। उन्हे पता नहीं कि वे अनन्त-अनन्त बार नीच से नीच समझे जाने कुलों में और हीन से हीन जातियां में उत्पन्न हो चुके हैं। अरे जाति के अभिमानी ! तूने अनन्त बार विष्ठा के कीड़े के रूप में जन्म ग्रहण किया है। आज तू जाति का अभिमान करने चला है !

और फिर जाति या कुल की उच्चता से ही किसी में उच्चता नहीं आ जाती। मनुष्य की उच्चता उसके सद्‌गुणों पर निर्भर है। किसी भी जाति मे और किसी भी कुल मे उत्पन्न होकर भी मनुष्य यदि चरित्रवान् है, धार्मिक है अथवा न्याय-नीति से अपना जीवन व्यवहार चलाता है, तो वह उच्च है। इसके विपरीत जो मनुष्य चरित्रहीन है, अधर्मी है और अन्यायी है, उसका जीवन नीचा है।

इसी प्रकार बल-वैभव आदि प्राप्त होने पर मनुष्य को वास्तविकता का विचार करना चाहिए और अभिमान से बचना चाहिए।

मनुष्य को यह भी सोचना चाहिए कि वह अभिमान करे भी तो किस पर करे ? जो वस्तु स्थिर हो उसका तो भरोसा किया जा सकता है परन्तु जो आज है कल नहीं, अभी है और अभी नहीं, उसका क्या भरोसा ? उस पर कैसा अहंकार ? जो काया यौवन अवस्था में कामदेव को भी लज्जित करती है, वही बुढ़ापे में क्लेश-

कोरी हो जाती है। उसे देखते ही घृणा उत्पन्न होती है। फिर बताओ, इस शरीर का अभिमान करना क्या शोभा देता है? संसार के सभी पदार्थ क्षणिक हैं, थोडी देर तक ही अपनी चमक दिखलाते हैं, फिर अस्त हो जाते हैं। ऐसी अस्थिर और कर्माधीन वस्तुओं का अभिमान करना अनुचित है। अतएव किसी प्रकार का सुख मिलने पर अहकार के वशीभूत होना बुद्धिमत्ता नहीं है। उस समय समभाव ही रखना चाहिए।

जैसे सुख के समय मनुष्य अहंकार का शिकार बन जाता है, उसी प्रकार दुःख के समय प्राय: द्वेष का भाजन बन जाता है। वह समझता है कि इस दुःख का कारण मैं स्वयं नहीं हूँ कोई दूसरा है। ऐसा सोच कर जिसे वह अपने अनिष्ट का कारण समझता है, उससे द्वेष करने लगता है। यह द्वेष भी महापातक है। द्वेष के अधीन होकर मनुष्य अपने कर्त्तव्य-अकर्त्तव्य को भूल जाता है और अधम से अधम कृत्य करने पर उतारू हो जाता है। आज संसार में सैकडों ही नहीं, हजारों ऐसे सपूत मिलेंगे जो अपने माता-पिता को भी नहीं छोडते। माता-पिता ने उनकी मर्जी के विरुद्ध कोई बात कही और वे उन्हें मारने-पीटने लगते हैं, अपशब्द कहते हैं और तरह-तरह से उनका अपमान करते हैं। घर में बहू के हाथ से थोड़ा-सा कुछ बिगाड़ हुआ तो सास सैकड़ों कटु वचन उसे सुनाती है और उसकी सात पीढ़ियों की खबर लेती है। जब सास असमर्थ होती है और बहू के हाथ में सत्ता आती है तो वह ब्याज समेत बदला लेती है। मगर यह सब बातें द्वेष मूलक होने से पाप का कारण हैं इनमें हिंसा का-दूसरों को सताने का भाव भरा हुआ है। इस प्रकार के द्वेष परिपूर्ण व्यवहार से गृहस्थी कलह एवं अशान्ति का अड्डा बन जाती है। कई बार बड़ी ही अवांछनीय घटनाएँ घटित होती हैं। कितनी ही बहुएँ शरीर पर घासलेट छिड़कर आग

में जल मरी। कितनी ही कुओं और तालाबों में जीवन विसर्जित कर चुकी है। कहीं पत्नी, पति के दुर्व्यवहार से व्यथित है तो कहीं पति को पत्नी के व्यवहार ने दुखी बना रक्खा है।

व्यापार में हानि हो जाय तो मनुष्य दुखी होता है, फिर घर पर आकर उसे अपनी स्त्री के मुख से सान्त्वना के दो बोलों के बदले अगर जली-कटी बातें सुनने को मिलें तो उसे दुःख न होगा? घर में पैसा न हो, फिर भी 'अमुक गहना गढ़वा दो, अमुक कपड़ा ला दो, यह लाओ, वह लाओ, इत्यादि माँगे करके अनेक स्त्रियां अपने पति को सताती हैं, मगर बहिनों को सोचना चाहिए कि पति को बाजार में अपनी इज्जत रखने की चिन्ता हो रही है, अगर घर में भी उसे सताया जायगा तो उसकी क्या दशा होगी? पति ही पत्नी का प्रधान आधार है। वही उनका सर्वस्व है। कदाचित् आपस में बोलचाल हो जाय तो भी उसे शान्तिपूर्वक पी जाने में ही बुद्धिमत्ता है। अड़ौस-पड़ौस में जाकर दुखड़ा रोने से कोई लाभ नहीं होगा, बल्कि प्रतिष्ठा का विनाश होगा। पड़ौसिनें सुन-सुन कर मन में हँसेगी। कहा है:—

> रहिमन निज मन की व्यथा, मन ही राखो गोय।
> सुनि अठिलैहैं लोग सब, बांटि न सकि हैं कोय ॥

अपने मन की पीड़ा मन ही में छिपा रखना उचित है। दूसरों को कहने से कोई लाभ नहीं। दूसरे सुनेंगे तो इठलाएँगे, उपहास करेंगे। वे उस व्यथा को बाँट ता सकते नहीं।

बहुत-से नादान पति अपनी पत्नी को पीड़ा पहुँचाते हैं। निष्कारण उन्हे अपशब्द कहते हैं। बहुत-से अपनी कुलमर्यादा को तिलांजलि देकर इधर-उधर धूल चाटते फिरते हैं! इसी प्रकार भाई

भाई को, सेठ नौकर को, वड़े छोटों को और छोटे वड़ो को सताते हैं। यह सव व्यवहार अनीति से भरे हैं। इनकी जड़ द्वेष है। अतएव समभाव का अवलम्वन कर द्वेष का विनाश करना चाहिए।

घर में जितने भी मनुष्य है, सब अपना पुण्य लकर आये हैं, उनसे द्वेष मत करो। द्वेष करोगे तो उनका प्रेम खो दोगे और अपना जीवन दुःखमय वना लोगे। तुम्हारे हितचिन्तक ही तुम्हारे शत्रु वन जाएँगे। इससे तुम्हे क्या लाभ होगा? कुछ भी तो नहीं अतएव द्वेष का फल केवल दुःख ही दुःख है। धर्म तो प्राणीमात्र से प्रेम करने का आदेश देता है। अगर तुम इतना नहीं कर सकत तो कम से कम अपने स्वजनों और इष्ट मित्रों से द्वेष मत करो।

कुछ लोक अपने द्वेष भाव का औचित्य सिद्ध करने के लिए यह युक्ति दिया करते है कि–क्या करें साहव, हम तो द्वेष नहीं करना चाहते, परन्तु हमारे संवधी हमारे प्रति द्वेष रखते है। जरा-जरा-सी वात पर विगड़ जाते हैं। हमारा अनिष्ट करने का कोई भी मौका हाथ से नहीं जाने देते। तव विवश होकर हमें भी उनसे द्वेप करना पड़ता है! किन्तु विचार करने पर इस युक्ति मे कुछ भी सार प्रतीत नही होता। दूसरों के द्वेप भाव को शान्त करने का उपाय यह नही कि वदले में द्वेष किया जाय। आग से आग शांत नहीं होती। आग को शान्त करने के लिए जल अपेक्षित है। इसी प्रकार द्वेप का नाश मैत्री से होता है। सचमुच ही जो द्वेष नहीं करना चाहता, उसे चाहिए कि वह द्वेप का प्रतीकार द्वेष से नहीं, मैत्री से करे। ऐसा करके द्वेप के मूल का उन्मूलन किया जा सकता है। वुद्धिमान् मनुष्य सवको अपने अनुकूल वना सकता है। सकस में तुमने देखा होगा कि सिंह और चीते सरीखे हिंसक प्राणी भी अपने मालिक की आज्ञा का पालन करते हैं। हाथी सरीखे वलवान्

और विशालकाय प्राणी भी मनुष्य के इशारे पर नाचते है। फिर मनुष्य तो आखिर मनुष्य ही है ! उसे वशीभूत करना क्या बड़ी बात है ? हाँ, बुद्धि और समय सूचकता चाहिए फिर कैसे भी दुर्जन को सज्जन बनाया जा कसता है । एक दृष्टान्त स यह बात स्पष्ट हो जायगी:—

किसी गृहस्थ की स्त्री का स्वभाव बहुत तेज था। वह मामूली बातों पर भी लड़ पड़ती थी, जिससे पति का नाकों दम हो गया था। परन्तु वह सीधा और सहनशील आदमी था। अपनी स्त्री की बात चुपचाप सुन लेता और सह लेता था।

कुछ दिनों बाद उसके एक लड़की जन्मी। वह धीरे-धीरे बड़ी हुई तो माता के समान ही उसका स्वभाव भी बड़ा उग्र हो गया। आखिर सन्तति के जीवन पर माता-पिता का प्रभाव पड़े बिना नहीं रहता। खास तौर से बाप का प्रभाव बेटे पर और माता का प्रभाव बेटी पर हुए बिना नहीं रहता। वह लड़की ऐसी लड़ाकू हुई कि अपनी माता को भी मात करने लगी।

लड़की बड़ी हुए तो पिता योग्य वर की तलाश करने लगा। परन्तु उस लड़की के स्वभाव के विषय में सभी ने सुन रक्खा था अतएव कोई उससे विवाह करने को तैयार नहीं हुआ। सभी यह सोचते थे कि लड़की लड़ाईखोर है, चडी का अवतार है, उस लाकर अपने घर को कलह और क्लेश का अखाड़ा क्यों बनाया जाय ?

लड़की का पिता प्रयत्न करके थक गया, परन्तु कोई योग्य वर न मिला। उसकी चिन्ता का पार न रहा, क्योंकि सयानी लड़की माता-पिता के लिए भार रूप हो जाती है। आखिर बहुत खोज के बाद उसने एक गरीब और समझदार लड़के को तैयार कर लिया।

समाज में पैसे की पूजा होती है। गरीबों को कोई अपनी लड़की देना नहीं चाहता। कितने ही ऐसे नवयुवक समाज में हैं जो सिर्फ धनवान् न होने के कारण ही कुंवारे फिरते हैं। अस्तु, वह गरीब लड़का भी विवाह करने को तैयार हो गया। किन्तु उसे पता चल गया था कि लड़की का स्वभाव बहुत तेज है और प्रथम श्रेणी की कलहकारिणी है।

नियत समय पर विवाह हो गया। पिताने जामाता के साथ अपनी पुत्री की बिदाई की दहेज में पलंग, वस्त्र, बरतन आदि-आदि सामान भी दिया। बरात विदा होकर गाँव के निकट आ पहुँची। लड़के ने सोचा-स्त्री को सुधारने का यही सर्वोत्तम अवसर है। इस समय इसके दिमाग पर जो असर पड़ जायगा, वह स्थायी होगा।' यह सोच कर उसने किसी बहाने अपने साथियों को आगे रवाना कर दिया। अकेली उसी की गाड़ी रह गई तब उसने गाड़ीवान को एक ओर ले जाकर समझा दिया, कि उसका जो कुछ भी नुकसान होगा, वह उसे भर दिया जायगा, परन्तु बीच में वह कुछ भी न बोले। जो कुछ हो, चुपचाप देखता जाय गाड़ीवान राजी हो गया। पर इस चालाकी की बात उसकी स्त्री को तनिक भी मालूम न हो सकी।

गाड़ी चली। तब लड़के ने गाड़ीवान को डाँट कर कहा–देख गाड़ीवान ! मुझे यह खड् खड् पसंद नहीं। खड् खड् की कतई आवाज न आने पावे !

पर गाड़ीवान क्या करता ? रास्ता ऊबड़खाबड़ था। आवाज हुए बिना गाड़ी चल नहीं सकती थी। गाड़ी के ऊपरी भाग पर जो पलंग रक्खा था, वह बहुत खड्-खड् कर रहा था। अतएव जब खड् खड् की आवाज बंद न हुई तो लड़के ने पलंग को

उठा कर नीचे पटक दिया और तोड-फोड कर चकनाचूर कर दिया। उसके नीचे मिठाई का एक घड़ा रक्खा था। उसे भी नीचे फेंक कर तोड दिया। अपने पति का यह हाल देख कर लड़की सहम गई। ऐसी भयभीत हुई कि न पूछो बात। लड़की के पिता ने साथ में एक दासी भेजी थी। वह भी इतनी डरी कि काँपने लगी और सोचने लगी-मैं कहाँ से इस मुसीबत में आ पड़ी! घर पहुँचने से पहले यह हाल है तो बाद में क्या होगा!

गाड़ी फिर चलने लगी अब गाड़ी के भीतर रक्खे हुए छोटे-छोटे समान खड़खड़ाने लगे। लड़के ने उन्हें भी बारी-बारी से फैंकना शुरु किया। इस प्रकार कुछ दूर जाने पर गाड़ी का सारा सामान समाप्त हो गया। गाड़ी खाली हो गई। उसमें सिर्फ तीन सवारियाँ थीं और चौथा स्वयं गाड़ीवान।

गाड़ी आगे बढ़ी। अब गाड़ी का पहिया चूं चूं करने लगा। लड़के ने उस पर भी हमला किया। और उसे भी तोड़-फोड़ कर रख दिया। पहिया टूट जाने पर गाड़ी चल ही कैसे सकती थी? आखिर सब नीचे उतर आये। लड़के ने अपनी नववधू को आदेश दिया-चलो आगे। नववधू पहले ही अकचकाई हुई थी। डरती-डरती चुपचाप आगे चलने लगी आखिर सब घर आ पहुँचे।

घर का ताला खोला गया, खोलते समय वहाँ भी आवाज आई। तब उसने वहाँ भी पत्थर दे मारा और ताले के टूकड़े टूकड़े कर दिये। किवाड़ खोलने पर उसका भी खटका हुआ और किवाड़ को भी टुकड़ा-टुकड़ा होना पड़ा।

अपने पति का यह उग्रतर स्वभाव देख कर लड़की के प्राण सूख गये। उसके हृदय में गहरा डर घर कर गया। मुँह से आवाज निकलना बंद हो गया।

लडके ने अपनी पत्नी को हिदायत कर दी--'मुझे जरा--सी भी आवाज पसंद नहीं है। इस घर में सब काम इशारों से ही होता है। आवाज होगी तो अच्छा न होगा।

बेचारी दासी यह हाल देख कर दूसरे ही दिन वहाँ से कोई बहाना बना कर खिसक गई; मानों कारागार से छूट कर भागी हो!

लड़की का लड़ाकूपन हिरन हो गया। उसे धीमी आवाज करने में भी भय लगने लगा। जिन- जिन वस्तुओं ने आवाज की था, उनका नाश उसने अपनी आँखों देखा था। फिर आवाज करने का साहस ही वह कैसे करती? हाँ, उसके लिए एक बड़े भय का कारण उसके हाथों की चूडियाँ थीं। वह सोचा करती--कहीं ऐसा न हो कि हाथ ऊँचा करते चूड़ियाँ खनक उठें और चूड़ियों के साथ हाथ की भी मरम्मत हो जाय! वह पापड़ चबाने में भी डरती थी कि कभी पापड़ के साथ--साथ दाँतों पर न आ बने।

कुछ दिनों बाद लड़की का पिता उसकी विदाई कराने आया। पिता ने पूछा -'बेटी, अच्छी तरह तो हो न?'

बेटी ने कहा--'हाँ, आनन्द में हूँ; पर आप अधिक बोलना मत। यहाँ सब काम इशारों से होता है।

दो--तीन दिनों में पिता ने उस घर का सब हालचाल जान लिया। अपनी लड़की के स्वभाव में अद्भुत परिवर्तन हुआ देख कर उसे आश्चर्य के साथ महान् आनन्द भी हुआ। वह एक दिन अपने जामाता की दुकान पर गया और जामाता के पैरों में पगड़ी रख कर बोला- जैसे आपने मेरी लड़की को सुधारा है उसी प्रकार अपनी सासू को भी सुधार दो तो बड़ी कृपा हो!

जामाता ने कहा--अब मौका निकल गया। आप पहले चेते होते तो काम बन सकता था। आप विदा के लिए आये हैं पर मैं अभी विदा करना नहीं चाहता।

लड़की का पिता निराश होकर लौट गया। इस घटना से लड़की की माँ आगबबूला हो उठी और बोली-'यह जमाई है या जम है।' थोड़े दिनों के बाद वह स्वयं लड़की को लेने के लिए जा धमकी।

माँ ने बेटी से कुशल-क्षेम पूछी। बेटी ने कहा-बहुत सुख में हूँ। यहाँ किसी तरह की आवाज तक नहीं होती। सब काम इशारों से होता है। तू अधिक मत बोलना। हमारी यह शान्ति देख कर पड़ौसी भी प्रशंसा करते हैं।

यह सब देख कर लड़की की माता को भी अपने घर में ऐसी ही शान्ति रखने और पड़ौसियों की तारीफ पाने की इच्छा हुई। घर आते ही उसने अपना व्यवहार एकदम बदल लिया। उसकी प्रकृति में यह विस्मयजनक परिवर्त्तन देख कर पड़ौसी आश्चर्य करने लगे और मुक्त कंठ से उसकी तारीफ करने लगे। कहने लगे-'भाई, अपूर्व परिवर्त्तन हो गया है इस घर में! पहले यह कलह का क्रीड़ागन था किन्तु अब शान्ति का सदन बन गया है। इसे यह ज्ञान कहाँ से मिला?

आखिर क्रोधी मनुष्य को भी शान्ति पसंद होती है क्योंकि शान्ति आत्मा का नैसर्गिक गुण है। अतएव लड़की की माता ने जब तक शान्ति का आनन्दमय स्वरूप नहीं देखा था, शान्ति के रस का आस्वादन नहीं किया था, तभी तक उसे क्रोध और कलह किये बिना चैन नहीं पड़ता था। मगर जब उसने शान्ति का सुखद सुधो-

धर्म रस चखा तो उसे शान्ति अत्यन्त प्रिय हो गई। वह कलह से घृणा करने लगी। अड़ौस पड़ौस की अन्य स्त्रियाँ भी उसे देख कर सुधर गईं।

यह तो एक दृष्टान्त है। सारांश यह है कि बुद्धिमान मनुष्य खराब से खराब मनुष्य को भी युक्ति द्वारा सुधार सकता है। कलहशील को कलहशील बन कर नहीं जीता जा सकता। द्वेषी को द्वेष से नहीं जीता जा सकता। ऐसा करने से तो कलह और द्वेष की वृद्धि ही होती है। अतएव अगर दूसरा तुम्हारे प्रति द्वेष धारण करता है तो भी तुम उससे द्वेष न करो। किन्तु प्रेम तथा युक्ति से उसका मुकाबिला करो।

समझदार मनुष्य का कर्त्तव्य है कि वह कभी किसी से भी द्वेष न करे और खास कर अपने इष्ट एवं सम्बन्धी जनों से। जिन माता-पिता ने हमारे पालन-पोषण, संरक्षण और संवर्धन के लिए सभी कुछ किया, स्वयं अनेकविध कष्ट उठा कर हमें सुख में रक्खा हमें सब तरह से सुखी और समर्थ बनाया, उनसे द्वेष करना हद दर्जे की कृतघ्नता है! पर आज संसार में पितृद्रोहियों को कमी नहीं है। इसी कारण गृहस्थजीवन भी दुःखमय होता जाता है। मनुष्य की भावना तो ऐसी होनी चाहिए:—

होऊं नहीं कृतघ्न कभी मैं, द्रोह न मेरे उर आवे।
गुणग्रहण का भाव रहे नित, दृष्टि न दोषों पर जावे॥

हे भगवन! जिन्होंने मेरे साथ उपकार किया हो, मैं उनके प्रति कृतज्ञ रहूँ। उनके उपकार का कदापि न भूलूं और न उनसे कभी द्रोह करूँ। परमात्मन् मेरी दृष्टि ऐसी निर्मल बन जाय कि

में किसी के अवगुण न देखूँ, अपने विरोधी के भी गुणों को ही अपनाऊँ ।

भाईयो ! अभिप्राय यह है कि जैसे अभिमान समभाव का नाशक है, उसी प्रकार द्वेष से भी समभाव का विनाश होता है। अतएव समभाव की रक्षा के लिए द्वेष का परित्याग करना भी अत्यावश्यक है।

समभाव को नष्ट करने का एक प्रबल कारण मायाचार भी है। मायाचार महापाप है। इसके कारण आत्मा को भव-भव में भ्रमण करना पड़ता है और हीन से हीन अवस्था में रह कर अनेक प्रकार के सकटों का सामना करना पड़ता है।

कपट करना, दगा देना, विश्वासघात करना, धोखा देना, आदि माया के अनेक रूप हैं। माया कषाय के कारण आत्मा अतिशय मलीन होता है। थोड़ा-सा विचार करने से ही यह विदित हो जायगा कि यह कषाय दूसरे कषायों से भी अधिक भयानक और आत्मा को मलीन करने वाला है। क्रोध आता है तो मनुष्य थोड़ी देर बड़बड़ा लेता है। कोई भी लगातार लम्बे समय तक क्रोध की स्थिति में नहीं रह सकता। क्रोध का उफान स्थायी नहीं होता। वह पहाड़ी नदी के वेग के समान अल्पकाल के लिए आता है। और फिर शान्त हो जाता है। इसी प्रकार अभिमान की स्थिति भी थोड़े समय तक ही रहती है। मगर मायाचार के लिए ऐसा नहीं कहा जा सकता। षड्यंत्र रचने वाला और जाल बिछाने वाला मनुष्य रात-दिन इसी उधेड़बुन में रहता है कि कैसे किसी का अनिष्ट करूँ! किस प्रकार मेरे जाल में दूसरे फँसें और मैं अपना मतलब गाठूँ!

एक बात और है। क्रोध का भाव प्रकट होता है। वह छिपता नहीं है। अहंकार भी बाहर आ जाता है। मगर माया

प्रच्छन्नरूप धारिणी होती है। वह प्रकट नहीं है, तभी तक माया है। अतएव क्रोधी से मनुष्य सावधान हो सकता है, परन्तु मायावी से बचना कठिन होता है। मायाचारी ऊपर से शान्त-सा दिखलाई देता है, परन्तु उसके मन में कषाय का ज्वालामुखी भभकता रहता है। उसे स्वयं को शान्ति नहीं; निराकुलता नहीं। जिस आत्मा में शान्ति नहीं, निराकुलता नहीं उसे सुख की प्राप्ति हो ही कैसे सकती है! इस प्रकार मायाचारी मनुष्य अपना जीवन दुःखमय, आकुलतापूर्ण और अशान्त बना लेता है। उसका आगामी भव भी घोर क्लेश में व्यतीत होता है, क्योंकि माया अधोगति में ले जाती है। भगवान् ने फरमाया है—

माया तैर्यग्योतस्य।

अर्थात्–मायाचार करने से तिर्यंचगति का बंध होता है। तिर्यंचगति अर्थात् पशु-पर्याय में कितने और कैसे-कैसे कष्ट होते हैं, यह कहने की आवश्यकता नहीं। वह तो सभी को प्रत्यक्ष दृष्टि-गोचर होते हैं।

यह जीव जब तिर्यंचगति में गया तो उसे इतने अधिक दुःख उठाने पड़े कि करोड़ों जीभें भी उनका वर्णन करने में समर्थ नहीं हैं। समग्र तिर्यंचगति घोर दुःखों से परिपूर्ण है। वहाँ क्षण भर भी सुख नहीं मायाचार के कारण जीव को इस दुःखमय पर्याय में असंख्य भव ग्रहण करने पड़ते हैं। अतएव अगर आप इस पशु-पर्याय से बचना चाहते हैं और दुःखों के भागी नहीं होना चाहते हैं तो मायाचार से बचने का प्रयत्न करो और हृदय को सरल बनाओ।

कितने आश्चर्य की बात है कि मायावी मनुष्य अपने जीवन को सुखी बनाने का प्रयत्न करता है, पर उस नादान को यह ज्ञान

नहीं कि मायाचार का सेवन करने से उसके सुख में कुठाराघात हो रहा है !

अन्य कषायों की अपेक्षा मायाकषाय बहुत भयंकर है और उसका छूटना भी बडा कठिन होता है । जहां इसका उदय होता है वहाँ प्रेम का विनाश हो जाता है ।

अन्य कषायों के समान इसके भी चार प्रकार हैं-(१) अनन्तानुबंधी माया (२) अप्रत्याख्यानी माया (३) प्रत्याख्यानी माया और (४) सज्वलन माया । इनका स्वरूप इस प्रकार है—

(१) अनन्तानुबन्धी माया-शास्त्र में इसकी उपमा बांस की गांठ से दी गई है । बास की गांठ में गांठ होती है और उसका भेदन करना कठिन होता है । अनन्तानुबन्धी माया करने वाला मुँह से बहुत मीठा बोलता है, परन्तु उसके अन्तःकरण में कपट की कतरनी चलती रहती है । वह अपने जीवन के अन्तिम क्षणों में भी इस घोर माया से मुक्त नहीं हो पाता । इस माया का जो शिकार है, उसकी आत्मा में सम्यक्त्व का भी आविर्भाव नहीं हो सकता । फिर श्रावक या साधु बन कर मोक्ष पाने की तो बात ही दूर रही । वह मिथ्यात्व के गाढ़ अंधकार में ही डूबा रहता है । अनन्तानुबन्धी मोया जीव को नरक में ले जाती है ।

(२) अप्रत्याख्यानी माया—शास्त्र में इसकी उपमा मेंढे के सींग से दी गई है । यद्यपि यह माया अनन्तानुबंधी माया के समान अभेद्य नहीं है, तथापि दुर्भेद्य अवश्य है । अप्रत्याख्यानी माया का आचरण करने वाला मनुष्य मर कर तिर्यंचगति में उत्पन्न होता है और बिल्ली कुत्ता, चीता, सिंह आदि हिंस्र जंतुओं की योनि धारण करके महा हिंसा का पाप उपार्जन करता है और फिर लम्बे समय तक नरक में निवास करना पड़ता है ।

अप्रत्याख्यानी माया का आचरण करने वाला श्रावक का भी पद नहीं पा सकता।

(३) प्रत्याख्यानी माया—इस माया की उपमा चलते हुए बैल के पेशाब की लकीर से दी गई है। वह लकीर वक्र होती है। इसके उदय से भी परिणामों में कुटिलता आ जाती है, जिसके प्रभाव से मनुष्य पूर्ण संयम की आराधना नहीं कर सकता।

(४) सञ्ज्वलनमाया—इस माया की उपमा बांस की छाल से दी गई है। बांस की छाल टेढ़ी होती है, परन्तु उसे सीधा करना कठिन नहीं। यह हल्के दर्जे की माया है, फिर भी यथाख्यात चारित्र का घात करती है जब तक इस कषाय का अस्तित्व है केवलज्ञान प्राप्त नहीं हो सकता।

जब कषाय का कालुष्य लेश मात्र भी नहीं रहता और आत्मा में पूरी तरह निर्मलता आ जाती है, तभी केवलज्ञान की प्राप्ति होती है। चार कषाय वाले पुरुषों की तुलना चार प्रकार के घड़ों से की गई है:—

(१) घड़ा विष से भरा है और उसका ढक्कन भी विषमय है।

(२) घड़ा विष से भरा है परन्तु उसका ढक्कन अमृतपूर्ण है।

(३) घड़ा अमृत से पूर्ण है परन्तु उसका ढक्कन विषमय है।

(४) घड़ा अमृत से पूर्ण है और ढक्कन भी अमृत से पूर्ण है।

प्रथम दृष्टान्त में उन लोगों का समावेश होता है जो हृदय से अत्यन्त मायाचारी हैं और माया के वशीभूत होकर वचन भी मायामय ही बोलते हैं। दूसरे प्रकार के लोग माया से परिपूर्ण तो होते हैं, मगर मुँह से मीठे बोलते हैं। जैसे बेर ऊपर से कोमल दिखाई देता है परन्तु भीतर से कठोर होता है उसी प्रकार ये मनुष्य भी होते हैं।

[illegible] सेठ—

तीसरे प्रकार के लोग वे हैं जिनके हृदय में हित की भावना है, जो उपकार करना चाहते हैं, परन्तु वचन कठोर बोलते हैं। प्रायः हित-वचन तीखे होते हैं, अतएव कानों को सुहाते नहीं और मन को भी अप्रिय लगते हैं, किन्तु परिणाम में वे सुखद होते हैं। कभी-कभी माता पिता या गुरुजन बच्चे की भलाई के लिए उसे ताड़ना करते हैं दुर्वचन भी कहते हैं, धमकाते भी हैं। उनकी बाहर की क्रिया यद्यपि कठोर होती है, परन्तु वह दया स्नेह, ममता और प्रेम से प्रेरित होती है।

चौथे प्रकार के पुरुष हृदय से भी शुद्ध होते है और भाषा से भी शुद्ध होते हैं। उनके अन्तःकरण में अपरिमित माधुर्य लहराता रहता है। इस कारण अन्तःकरण के उद्गार जब वाणी के रूप में बाहर आते हैं, तो उनमें भी वही माधुर्य मिला रहता है। ऐसे महामानव की जितनी प्रशंसा की जाय, थोड़ी है। परन्तु ऐसे विरले ही होते हैं। कहा है—

हितं मनोहारि च दुर्लभं वचः।

अर्थात् जो हितकारी भी हों और मन को हरण करने वाले भी हो, ऐसे वचन ससार में दुर्लभ हैं।

सच्चे श्रावक का आदर्श यही होना चाहिए। उसके हृदय में और वाणी में भी मधुरता एव मनोज्ञता होनी चाहिए। ऐसे श्रावक ही भगवान् की महत्ता को दिपा सकते हैं।

हे प्राणियो! माया कषाय के स्वरूप का विचार करो और इसका परित्याग करो। इससे न इस संसार में ही तुम्हें सुख मिल सकता है और न परलोक में। शास्त्र मे कहा है—

माया मित्ताणि नासेइ।

सब हमारे उपदेश के अनुसार चलें तो घर का कलह ही मिट जाय और जेलखाने का मुँह न देखना पड़े।

आखिर सब लोग चाहते क्या है। सब आस्तिकों का उद्देश्य एक ही है और वह है मोक्षप्राप्ति। इस संबंध में श्री सूत्रकृतांग में कहा है—

ठितीण सेट्ठा लवसत्तमा वा,
सभा सुहम्मा व सभाण सेट्ठे।
निव्वाणसेट्ठा जह सव्वधम्मा,
ण णायपुत्ता परमत्थि नाणी॥

हर एक मजहब समझ ले कि सब मजहबों का सार मोक्ष-प्राप्ति है। क्या कोई भी नरक में जाना चाहता है? कोई कुत्ता बनना चाहता है? गधे की योनि में उत्पन्न होना चाहता है? किसी भी धर्म, मत या पंथ की स्थापना मनुष्य को कीड़ा-मकोड़ा बनाने के लिए नहीं हुई है। प्रत्येक धर्म पन्थ निरंजन--निराकार पद प्राप्त करने को मार्ग की ओर संकेत करता है। सब धर्म एक स्वर से कह रहे हैं कि निर्वाण सब में श्रेष्ठ है।

निर्वाण की तारीफ नहीं हो सकती। वह ऐसे अमन की जगह है और चैन का स्थान है कि आप कल्पना भी नहीं कर सकते। वहाँ अनन्त सुख है। उसका पूरी तरह जिक्र करने के लिए हमारे पास उपयुक्त शब्द नहीं हैं।

श्रीमद् आचारांगसूत्र में बतलाया है कि--हे गौतम! मोक्ष के सुख का स्वरूप बतलाने के लिए कोई शब्द नहीं है। जैसे गूंगा आदमी गुड़ के स्वाद को जानता है, लेकिन उसका वर्णन नहीं कर

तीसरे प्रकार के लोग वे है जिनके हृदय में हित की भावना है, जो उपकार करना चाहते हैं, परन्तु वचन कठोर बोलते हैं। प्रायः हित-वचन तीखे होते हैं, अतएव कानों को सुहाते नहीं और मन को भी अप्रिय लगते हैं, किन्तु परिणाम में वे सुखद होते हैं। कभी-कभी माता पिता या गुरुजन बच्चे की भलाई के लिए उसे ताड़ना करते हैं दुर्वचन भी कहते हैं, धमकाते भी हैं। उनकी बाहर की क्रिया यद्यपि कठोर होती है, परन्तु वह दया स्नेह, ममता और प्रेम से प्रेरित होती है।

चौथे प्रकार के पुरुष हृदय से भी शुद्ध होते हैं और भाषा से भी शुद्ध होते हैं। उनके अन्तःकरण में अपरिमित माधुर्य लहराता रहता है। इस कारण अन्तःकरण के उद्गार जब वाणी के रूप में बाहर आते हैं, तो उनमें भी वही माधुर्य मिला रहता है। ऐसे महामानव की जितनी प्रशंसा की जाय, थोड़ी है। परन्तु ऐसे विरले ही होते हैं। कहा है—

हितं मनोहारि च दुर्लभं वचः।

अर्थात् जो हितकारी भी हों और मन को हरण करने वाले भी हों, ऐसे वचन संसार में दुर्लभ हैं।

सच्चे श्रावक का आदर्श यही होना चाहिए। उसके हृदय में और वाणी में भी मधुरता एवं मनोज्ञता होनी चाहिए। ऐसे श्रावक ही भगवान् की महत्ता को दिपा सकते हैं।

हे प्राणियो! माया कषाय के स्वरूप का विचार करो और इसका परित्याग करो। इससे न इस संसार में ही तुम्हे सुख मिल सकता है और न परलोक में। शास्त्र में कहा है—

माया मित्ताणि नासेइ।

अर्थात्–मायाचार मित्रों को शत्रु बना देता है। वह प्रीति का विनाशक है और दुखी बनाने वाला है। मायाचार का त्याग करने से तुम्हारा हृदय निर्मल होगा, क्रियाएँ सात्विक होंगी, वाणी में अमृत का वास हो जायगा और इससे तुम सर्वप्रिय बन सकोगे।

आज यह स्थिति दिखाई नहीं देती । इसी कारण लोग कहते हैं—

> मोटो बांधे मुंहपती, नोकार वालो फेरे।
> कूड़-कपट को कोथलो, माल पराया हेरे ॥

जो लोग अपने को जैन कहते हैं और साथ ही इस प्रकार का व्यवहार करते हैं, छल, कपट से परहेज नहीं रखते, दूसरों को फँसाने के लिए जाल रचते हैं और धोखा देकर ठगते हैं, वे अपने व्यवहार से जैनधर्म को मलिन करते हैं। ऐसे कपटी लोगों का मुँहपत्ती बाँधना और माला फेरना अथवा कोई भी धार्मिक क्रिया करना व्यर्थ है–आडम्बर है।

शास्त्रों में अनेक दृष्टान्तों द्वारा समझाया गया है कि मायाचार करने से क्या क्या दुःख भोगने पड़ते हैं ? लोकोक्ति भी प्रसिद्ध है कि–'दगा किसी का सगो नहीं।' अर्थात् दगाबाजी से आज तक किसी की भलाई नहीं हुई।

राजा श्रीपाल ने कई बार धवल सेठ की मदद करके प्रतिष्ठा की रक्षा की, धन और प्राण बचाये, परन्तु वह दुष्ट उन सब उपकारों को भूल कर सोते हुए श्रीपाल को कटार से मारने के लिए उद्यत हो गया। परन्तु पापी का मन ठिकाने नहीं रहता। वह कहीं चलता और कहीं देखता है। उसके मन में सदैव यह आशंका रहती है कि मेरी करतूत का कहीं भंडाफोड़ न हो जाय ! परिणाम यह

हुआ कि धवल सेठ का पैर उसी की धोती में फँस गया। वह गिर पड़ा और जिस कटार से श्रीपाल को मारने चला था, वही उसके पेट में आर-पार हो गई। वह वहीं ढेर हो गया।

'दगा किसी का सगा नहीं'–यह इसका ज्वलन्त उदाहरण है अतएव भ इयो! दगा छोड़ो और हृदय को शुद्ध करो। कंस ने कृष्णजी को मारने के अनेक उपाय किये, पर अन्त में कंस ही मागा गया।

आशय यह है कि आप स्थूल को ही न देख कर सूक्ष्म को भी देखिए। अपने दुःख के वाह्य कारणों पर विचार करते समय आन्तरिक कारणों को भूल न जाइए। जब आपको ज्ञात होगा कि अपने दुःख के प्रधान कारण आप ही हैं, तब आपके अन्तःकरण में समभाव जागृत होगा। इससे आप अपनी आत्मा को निष्पाप बना सकेंगे। ऐसा करने स आनन्द ही आनन्द होगा!

बम्बई
१४-६-३१
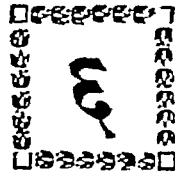
पाप का बाप

स्तुति:—

मत्वेति नाथ तव संस्तवनं मयेद-
मारभ्यते तनुधियापि तव प्रभावात्।
चेतो हरिष्यति सतां नलिनीदलेषु,
मुक्ताफलद्युतिमुपैति ननूदबिंदुः॥

भगवान् ऋषभदेव को स्तुति करते हुए आचार्य महाराज फर्माते है-हे सर्वज्ञ, सर्वदर्शी, अनन्तशक्तिमान्, पुरुषोत्तम ऋषभदव भगवान्! कहाँ तक आपकी स्तुति की जाय? हे प्रभो! कहाँ तक आपके गुण गाये जाएँ?

भाइयो! कल कुछ क्रियाओं का निरूपण किया गया था। आध्यात्मिक क्रिया, मानप्रत्यया क्रिया और मायाप्रत्यया क्रिया के संबंध में कुछ विचार प्रकट किये गये थे। अच्छा होगा, आज उससे आगे की क्रिया-लोभ क्रिया के विषय में आपके समक्ष कुछ उद्गार

प्रकट किये जाएँ। आप अपने जीवन को उच्च बनाने के अभिलाषी हैं। आप आत्मा में घुसे हुए विकारों को नष्ट करके और पापों का परित्याग करके शुद्ध आत्मदशा प्राप्त करना चाहते हैं। इसी उद्देश्य से संतों का समागम करते हैं और इसीलिए मेरे समक्ष उपस्थित होकर धर्मोपदेश सुनना चाहते हैं। ऐसी स्थिति में मुझ पर उत्तरदायित्व आ जाता है कि मैं अपनी बुद्धि के अनुसार भगवान् की वाणी को अपने समक्ष रख कर, आपका पथप्रदर्शन करूँ।

आपके पथप्रदर्शन के लिए मुझे बतलाना चाहिए कि आपके भीतर वह कौन-से तत्त्व विद्यमान हैं, जो आपकी प्रगति में बाधक हो रहे हैं? क्या कारण हैं, जिनसे आत्मा का उत्थान नहीं हो रहा है? मंगल की अभिलाषा होने पर भी अमंगल से क्यों पाला पड़ता है? अगर इन बातों को आप भलीभाँति समझ लेंगे तो आपके विकास का मार्ग प्रशस्त बन जायगा। बुराइयों को त्याग कर आप आत्मोत्थान के पथ पर प्रगति कर सकेंगे।

चिकित्सा में निदान का महत्त्वपूर्ण स्थान होता है। जो चिकित्सक रोग का सही निदान जाँच लेता है, वही सही उपकार कर सकता है। और जो बात शारीरिक रोगों के विषय में हैं, वही आत्मिक रोगों के विषय में है। आत्मा में चिरकाल से अनेक रोगों ने घर कर रक्खा है, उनका प्रतीकार करने के लिए हमें जानना होगा कि इन रोगों का मूल कहाँ है? यह जान लेने पर उन्हे निर्मूल करना सरल होगा।

इस दृष्टि से विचार करने पर पता लगता है कि वास्तव में कषाय ही समस्त आध्यात्मिक रोगों के मूल हैं। यह पाप के प्रमुख कारण है और यही समस्त दुःखों के जनक हैं। एक आचार्य ने कहा है:—

विचारशील मनुष्य को दुनियाँ का यह ढंग देख कर विस्मय होता है। किन्तु सत्य तो यह है कि यह सब लोभ की ही करामात है। लोभ ने मनुष्य को विचारहीन बना दिया है। वह अपना हित-अहित सोच ही नहीं सकता। यही कारण है कि लोभान्ध मनुष्य निरर्थक ही धनोपार्जन के लिए पाप किया करता है।

इस लोभवृत्ति को चरितार्थ करने के लिए लोग क्या-क्या नहीं करते ? लोभी आदमी जंगल का ठेका लेकर वहाँ के एकेन्द्रिय से लेकर पचेन्द्रिय तक के जीवों का घात करता है। चांदी-सोने के लिए हजारों-लाखों गज जमीन खुदवा डालता है। भट्ठे बना कर ईंटें और चूना आदि पकाता है, जंगल में आग लगाता है, कत्ल-खाने चलाता है, दुराचारिणी स्त्रियों का पोषण करता है, कहाँ तक कहें अपनी प्राणप्यारी पुत्री को भी बेच डालने में संकोच नहीं करता। कन्या विक्रय साक्षात् जीवित मांस--विक्रय के समान है, फिर भी लोभी माता--पिता ऐसे पाप का सौदा करते हैं। इसी प्रकार रेशम के कारखाने वाले, जंगलों में से हाथीदांत खरीद कर लाने वाले अनेक जीवों का प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप में भयंकर संहार करते हैं ! गौ को माता के समान पूज्य मानने वाले हिन्दू और ब्राह्मण भी कसाई को गाय बेच डालते हैं !

भाइयो ! यह सब लोभ का ही परिणाम है। समझदार मनुष्य भी लोभ के फंदे में फंस कर अत्यन्त गर्हित कृत्य कर डालते हैं। फिर चाहे उन्हें जीवन पर्यन्त पश्चात्ताप की विकराल ज्वालाओं में दग्ध होना पड़े, मगर प्रबल लोभ का उदय एक बार उनकी मति भी नष्ट कर देता है।

वास्तव में लोभ की शक्ति बड़ी जबर्दस्त है। यह ग्यारहवें गुणस्थान तक आत्मा का पीछा नहीं छोड़ता। ग्यारहवें गुणस्थान

जैसी उच्च भूमिका तक पहुँचे हुए महात्मा को भी यह नीचे खींच लाता है और भ्रष्ट करके पहले गुणस्थान तक पहुँचा देता है। यह हालत तो उन मुनिराजों की है जो महाज्ञानवान् हैं, महाऋद्धिमान् हैं और जिन्होंने चिरकाल पर्यन्त कठिन तपस्या की है। जो शास्त्रों के भलीभाँति ज्ञाता हैं, वैराग्यवान हैं और परम दयालु हैं। वे भी लोभकषाय के वशीभूत हो जाते हैं और सब तपस्या को धूल में मिला लेते हैं! ऐसी स्थिति में साधारण मनुष्य की तो कथा ही क्या!

लोभ मनुष्य के विवेक को नष्ट कर डालता है। लोभी को धर्म-अधर्म का विवेक नहीं रहता। कितने ही मनुष्य कचहरी में जाकर झूठे बयान और झूठी गवाही देते हैं, राम की सौगंद खा जाते हैं, गीता हाथ में उठा लेते हैं और न जाने क्या क्या करते हैं। ऐसे लोग धर्म के तत्त्व को नहीं समझ सकते। उनके सामने मनुष्य-की कोई कीमत नहीं है। वे अपने जीवन को भावी अमंगल का कारण बना लेते हैं। हीरा का मोल जौहरी समझ सकता है, लह-सन कांदा बेचने वाला नहीं समझ सकता। जिस मनुष्यजीवन के लिए इन्द्र और अहमिन्द्र भी तरसते हैं उसे यह लोभी जीव वृथा खो देता है! हानि का कारण बना डालता है।

भाइयो! जरा विचार करो-संसार में लोभ ने कितनी अशांति मचा रक्खी है! न्यायालयों में जाकर देखो तो विदित होगा कि सौ में से पचास मुकदमे तो भाई-भाई के, पिता-पुत्र के तथा ऐसे ही सगे संबंधियों के मिलेंगे। तीस ऐसे होंगे जिनमें कुछ चालाक लोगों ने लोभ के कारण अनपढ़ गरीबों के गलों पर छुरी फेरने के लिए जाल फैलाया है। कहीं ५०) रु. देकर २००) का कागज लिखाया गया होगा तो कहीं ब्याजदर प्रतिरुपया चार आना पहले से ही जोड़ कर सौ के बदले तीन-चार सौ का कागज लिखाया गया

अवेहि विद्वन्! ममतैव मूलं—
शुचां, सुखानां समतैव चेति।

अर्थात्-हे विद्वान्! तू समझ ले कि ममता ही समस्त शोकों का कारण है और समता ही समस्त सुखों का कारण है।

शाब्दिक दृष्टि से 'ममता' और समता' में विशेष अन्तर नहीं है। केवल आरंभ के एक ही अक्षर में भेद है; परन्तु दोनों का स्वरूप और प्रभाव परस्पर विरोधी है। अंधकार और प्रकाश में जितना अन्तर है, उतना ही समता और ममता में है। समता स्वर्ग की सीढ़ी है तो ममता नरक की नसैनी है। समता से सिद्धि और समाधि प्राप्त होती है, ममता से नरक और निगोद की अकथनीय व्यथाएँ मिलती हैं।

इस प्रकार चार कषायों में भी ममता का अर्थात् लोभ का सर्वोपरि स्थान है। आत्मा अपने पुरुषार्थ से जब कषायों पर विजय प्राप्त करने के लिए उद्यत होता है, तो क्रोध को जीत लेता है, मान का भी मान मर्दन कर देता है और माया को भी परास्त कर डालता है; मगर लोभ तब भी बना रहता है। उसे नष्ट करने के लिए विशेष पराक्रम की आवश्यकता होती है। सब के बाद वह समाप्त होता है।

बड़े-बड़े ऋषियों और मुनियों को भी लोभ अपने जाल में फँसा लेता है, तो साधारण मानवों की तो बात ही क्या है? समग्र संसार लोभ स अभिभूत है। लोभ के कारण ही समस्त पापों का आचरण किया जाता है। लोभ पाप का बाप है। मनुष्य की वास्तविक आवश्यकताएँ कितनी-सी हैं? उसका छोटासा शरीर है और छोटा सा पेट है। शरीर ढँकने और पेट भरने के लिए संसार भर का सम्पत्ति की आवश्यकता नहीं है। करोड़ों और लाखों की सपत्ति भी नहीं चाहिए। पेट के लिए सुबह-शाम चार रोटियाँ ही बस हैं।

थोड़े-से वस्त्रों से ही काम चल सकता है। अधिक संचय न यहां काम आता है, न परलोक में साथ जाता है। यह एक ऐसी बात है कि उसे सिद्ध करने की आवश्यकता नहीं। यह तो अपनी हथेली के अस्तित्व के समान प्रत्यक्ष से ही प्रमाणित है। सभी यह बात जानते हैं।

हम फकीर शायद न समझ पाते हों तो, हे धनकुबेर! तू बता। तेरे बड़े-बड़े धन के भंडार तेरे लिए किस काम के हैं? क्या तू उस धन को खा सकता है? पहन सकता है? आखिर किस प्रयोजन से तू तिजोरियों पर तिजोरियाँ भरे जा रहा है? वस्तुतः इस प्रश्न का कोई सन्तोषजनक उत्तर नहीं दे सकता। शरीर की आवश्यकताएँ बहुत सीमित हैं। उनकी पूर्ति के लिए झूठ-कपट, अन्याय, अत्याचार, चोरी डकैती, जुआ-सट्टा आदि करने की आवश्यकता नहीं है। वह तो प्रामाणिकता के साथ अल्पश्रम करने से भी पूरी हो सकती हैं। उनके लिए पाप का सेवन करना व्यर्थ है। दिन रात 'हाय पैसा, हाय पैसा' की धुन भी आवश्यक नहीं है।

मगर चारों ओर दृष्टि दौड़ा कर देखते हैं तो ऐसा जान पड़ता है, मानो दुनियाँ बावली हो रही है। रात दिन धन कमाने में लगी है। धनोपार्जन का कोई भी तरीका क्यों न हो, उसे अपनाने में मनुष्य संकोच नहीं करता। देश को हानि हो तो भले हो, धर्म जाय तो जाय, नीतिमर्यादा का भंग होता हो तो बला से और आत्मा पापों से लिप्त हो तो हो मगर धन मिल जाना चाहिए। तिजोरी भर जानी चाहिए! जैसे समग्र जीवन धन के लिए समर्पित है! धन-देवता के आगे अपनी आत्मा को बलि का बकरा बना डाला है! इस प्रकार धन के लिए लोग आत्मा का हनन कर रहे हैं और जानते हैं कि यह धन हमारे काम आने वाला नहीं! यह कितनी अद्भुत बात है!

होगा। बम्बई जैसे बड़े-बड़े नगरो में भी ऐसे सैकड़ों उदाहरण मौजूद हैं। यह कितने खेद की बात है! भाइयो! सुनो, अपने कल्याण की बात सुनो। तुम गृहस्थ हो तो मैं नहीं कहता कि पैसा मत कमाओ, किन्तु इस प्रकार नैतिकता से विरुद्ध व्यवहार करके मत कमाओ। पैसे के लिए अपना धर्म मत बेचो। पैसा जीवन के लिए है, जीवन पैसे के लिए नहीं है। धन को तृष्णा से अंधे होकर न्याय-अन्याय को मत भूलो। जिस धन के लिए तुम धर्म को भूल रहे हो, वह साथ जाने वाला नहीं है। हाँ, धनोपार्जन के लिए तुम जो पाप करोगे, वह अवश्य ही तुम्हारे साथ जायगा। धन तो यहाँ का यहाँ रह जायगा, किन्तु बाँधा हुआ पाप तुम्हे भव-भव मे दुःख देगा।

इतिहास पढ़ने वालो को मालूम है कि जब महमूद गजनवी बहुत बीमार हो गया और बचने की आशा उसे न रही तो रोने लगा। उसने सत्तरह बार हिन्दुस्तान पर चढ़ाई की थी और नगरों, मंदिरों तथा राज्यों को लूट कर अपार धन गजनी में इकट्ठा किया था। प्रत्येक लूट में उसने हजारों-लाखों मनुष्यों का वध किया था। लाखों स्त्रियों को विधवा बना कर और लाखों बच्चों को अनाथ बनाकर उसने प्रचुर धनराशि संचित की थी। उसने सैकड़ो ग्रामों को आग की भेंट कर दिया था तथा मंदिरों और मूर्तियों को तुड़वा डाला था।

महमूद को रोता देख वजीर ने कहा-'जहांपनाह! आप रोते क्यो हैं? बड़ी-बड़ी लड़ाइयों में आपने उफ़ तक नहीं किया, पर आज आपकी आंखों से आंसुओं की धारा बंद नहीं हो रही है। जहांपनाह, शान्त हों।'

महमूद बोला-'वजीर, तुम नहीं जानते। मेरे दिल मे आज तीव्र ज्वाला धधक रही है। आज मुझे उन लाखों विधवाओं

और अनाथों का आर्त्तनाद सुनाई दे रहा है, जिन्हें मैं ने अपनी धन लोलुपता के कारण अनाथ बनाया है। वे सब मुझ पर शाप की वरसा कर रहे हैं।

वजीर-'जहांपनाह, आपका वह सारा धन ज्यों का त्यों भंडार में सुरक्षित है।'

महमूद—'मेरे पापो की साक्षात मूर्त्ति उस धन को मेरे चारों तरफ इकट्ठा करो, जिससे मै देखूँ कि पाप का कितना बड़ा बोझ मेरे सिर पर है।'

हुक्म होते ही सब धन महमूद के पलंग के चारों ओर इकट्ठा कर दिया गया। रत्नों के और सोने-चादी के बड़े-बड़े ढेर लग गये। यह देखकर महमूद और जोर से रोने लगा और कहने लगा—

'ऐ दौलत! तेरे लिए मैं ने जितना पाप किया है, उससे खुदा की खफगी मेरे ऊपर अवश्य उतरेगी और अनन्त काल तक मैं दोजख (नरक) की आग में जलता रहूँगा। ऐ दौलत, तेरे लिए मैं ने अपनी जिंदगी बर्वाद कर दी, पर तेरा एक छोटा-सा हिस्सा भी-एक पैसा भी-मेरे साथ नहीं चल रहा है।'

सुनते हैं, वजीर ने हीरों-जवाहरात की पोटली महमूद की छाती पर रख दी। वह उसी समय मर गया। पाप का सारा धन यहीं रह गया।

भाइयो! इस ऐतिहासिक घटना से कुछ लाभ उठाओ। तुम महमूद से अधिक शक्तिशाली नहीं हो और उससे अधिक धन भी इकट्ठा नहीं कर सकते हो, तो फिर अन्त मे कितना पछताना होगा, यह सोच लो। अन्त में पछताने की अपेक्षा पहले ही

सावधान हो जाना अच्छा है। अतएव पैसे के लिए पाप मत करो। पाप और अन्याय का पैसा सदैव दुःखदायी होता है। और फिर लोभ का कहीं अन्त भी नहीं है। एक उदाहरण से आप अच्छी तरह समझ जाएँगे—

दो गरीब मित्र अपने बाल-बच्चों के अर्थ १०-१२ महीनों के लिए पर्याप्त अन्न घर में रख कर धनोपार्जन के लिए परदेश गये। एक का नाम बालचंद और दूसरे का नाम रूपचंद था। दोनों का भाग्य चमका और व्यापार भी चमका। एक-एक लाख रुपया हो गया। दोनों ने घर लौटने का विचार किया। पहले यातायात के आज जैसे साधन नहीं थे और मार्ग भी सुरक्षित नहीं था। लुट जाने का भय बना रहता था। अतएव दोनों ने खर्च के लिए थोड़ी-सी रकम रख कर शेष का जवाहरात खरीद लिया। अपनी रक्षा के लिए तलवार-कटार भी साथ ले ली।

दोनों जंगल मे चले जा रहे थे। बालचद के मन में पाप आया। उसने सोचा—रूपचंद को मार डालूं तो मैं दो लाख का मालिक हो सकता हूँ!

कुछ आगे चले तो कुआ मिला। ढोंगी बालचंद ने कहा—मेरी तबियत खराब है। जरा आराम कर लें।

दोनों एक पेड़ की शीतल छाया में ठहरे। बालचंद लेट गया। उसे देख रूपचंद भी लेट गया और उसे नींद आ गई। उसे सोया देख बालचंद उठा और रूपचंद की छाती पर छुरा तान कर चढ़ बैठा। रूपचद हड़बड़ा कर जागा। बालचंद को छाती पर सवार देखकर समझ गया कि इसके मन में पाप समा गया है। उसने बहुत समझाया पर बालचद पर तनिक भी असर न पड़ा। अन्त में उसने गिड़गिड़ा कर कहा-तू धन ले ले, परन्तु

मेरे प्राण बचने दे। बालचंद ने यह भी स्वीकार न किया और पेट में छुरा भौंक दिया। बेचारे रूपचंद की आंतें बाहर निकल पड़ीं। उसने मरते-मरते कहा—अच्छा, मेरी स्त्री से चार अक्षरों का संदेश कह देना—'बा-रू-घो-ल'. बालचंद ने यह स्वीकार करके उसकी लाश कुए में डाल दी। वह अपने गाँव की तरफ चल पड़ा। घर आकर उसने एक बड़ी दुकान लगाई। सब लोग उसे 'सेठ साहब' के आदरसूचक शब्दों से संबोधन करने लगे।

कुछ दिनों बाद रूपचंद की पत्नी को बालचंद के आने की खबर लगी। वह उसके घर गई। पूछा-तुम्हारे मित्र क्यों नहीं आये? कब तक आएंगे?

ढोंगी और पापी बालचंद यह प्रश्न सुनकर दिखावटी खेद प्रकट करता हुआ कहने लगा— क्या बताऊँ, अपने मित्र का स्मरण आते ही मेरा कलेजा फटने लगता है।'

यह सुन कर स्त्री को बड़ा आघात लगा। उसने पूछा-'कहिए तो सही क्या हुआ है?'

बालचंद बोला-'हुआ क्या, बहुत बुरा हुआ। हम दोनों ने अलग-अलग व्यापार किया। दुर्भाग्य से उसे घाटे पर घाटा होता रहा। मैं ने २००-४०० देकर सहायता की, फिर भी उसे घाटा ही रहा। इस दुःख के कारण वह बीमार होगया। मैं ने इलाज में भी दो-अढ़ाई सौ खर्च कर दिये मगर फल कुछ न निकला। दुःख रुपये का नहीं, मित्र का है। ऐसा मित्र दूसरा नहीं मिल सकता।

पति की परदेश में मृत्यु हो जाने के समाचार से पत्नी को कैसा आघात लगा होगा, यह अनुमान किया जा सकता है।

मगर उसने उस समय धैर्य से काम लेकर कहा—'अन्तिम समय में मेरे लिए कुछ कह नहीं गये क्या ?'

बालचंद बोला-अन्तिम समय उसे त्रिदोष हो गया था। अंटसट बकता था। वह तुम्हारे लिए 'बा-रू-घो-ल' यह चार अक्षर कह गया है, पर इनका अर्थ मेरी समझ में नहीं आया।

स्त्री ने चारों अक्षर एक कागज़ पर लिखवा लिये।

रूपचंद की स्त्री कागज़ का वह पुर्जा लेकर रानी के पास गई। पण्डितों से उनका अर्थ निकालने की प्रार्थना की। रानी बड़ी दयालु थी और उस स्त्री के प्रति सहानुभूति उत्पन्न हो जाना भी स्वाभाविक था। रानी ने राजा से कह कर उन अक्षरों का अर्थ खोजने की प्रार्थना की।

राजा की सभा में बड़े-बड़े पण्डित थे। वे उन अक्षरों का अर्थ निकालने में जुट पड़े। बहुत माथापच्ची करने पर भी किसी की समझ में न आया कि इन अक्षरों का क्या अर्थ है! राजा ने तीन दिन की मोहलत दी और कहा-अगर इनका अर्थ न निकला तो चौथे दिन फांसी पर चढ़ा दिये जाओगे।

राजा प्रतिदिन अर्थ पूछता है, पण्डित निरुत्तर रह जाते हैं। राजा का क्रोध बढ़ता जाता है और पण्डितों का प्राणभय बढ़ता जाता है। दो दिन बीत गये। दूसरे दिन शाम के समय सिपाहियों की भूल से एक ब्राह्मण का छोकरा मकान में बंद होने से बच गया। वह मौका देखकर भागा और जंगल में जाकर किसी वृक्ष के नीचे बैठा। चिन्ता के कारण उसे नींद न आई।

रात को उस पेड़ पर दो भूत रहते थे। वे आज भी आये। एक ने कहा-कोई नयी बात हो तो सुनाओ।

दूसरे ने कहा—एक राजा ने अपने पडितों से 'बा-रू-घो-ल' का अर्थ पूछा है। तीन दिन की मोहलत दी है। दो दिन हो चुके। कल तक अर्थ न बता सके तो उन्हे फाँसी पर चढ़ना पड़ेगा।

पहला भूत—ये अक्षर विचित्र है। तुम्हें इनका अर्थ मालूम हो तो बतलाओ।

दूसरा—हाँ, मुझे मालूम है। 'बा' का अर्थ बालचंद और 'रू' का अर्थ रूपचद है। 'घो' का मतलब घोर जंगल है और 'ल' का अर्थ लाख रुपया है। सब का आशय यह है कि बालचद ने रूपचंद को घोर जंगल मे मार डाला। उसकी लाश कुए मे फेक दी और उसका एक लाख रुपया हजम करके अपने घर पहुँच गया।

भूतों की बात सुन कर लड़के को अपार आनन्द हुआ। दिन निकलने से पहले ही वह लौट कर अपने घर पहुँच गया।

मध्याह्न में राजसभा ठसाठस भरी थी। वह बालक उन चार अक्षरों का अर्थ करने के लिए खड़ा हुआ। उसने कहा-जिसने यह चार अक्षर दिये हैं, उसे भी हाजिर किया जाना चाहिए। तब राजा ने रानी को कहा। रानी ने रूपचद की पत्नी को हाजिर किया। लड़के ने उससे पूछा-तुम्हे यह अक्षर किसने दिये हैं?

स्त्री ने पिछला वृत्तान्त सुनाते हुए कहा—'बालचन्द सेठ द्वारा यह चार अक्षर मेरे लिए कहला भेजे है।' इस पर राजा के आदेश से बालचचद भी राजसभा में बुला लिया गया।

राजा ने बालचद से पूछा—'यह चार अक्षर तुम्हे किसने कहे?

बालचंद बोला—महाराज! मेरे मित्र रूपचंद ने मरते समय अपनी स्त्री से कह देने के लिए कहे थे।

इसके पश्चात् लड़का ऊटपटांग श्लोक जोड़ कर बोला—'महाराज ! इन चार अक्षरों का अर्थ है—'बालचंद ने रूपचंद को घोर जंगल में लाख रुपये के लिए मार डाला।'

राजा ने जाँच करवाई तो उस जंगल के कुए में रूपचंद की लाश मिल गई। अपराध सिद्ध हो गया। राजा ने बालचंद का मुँह काला करवा कर और गधे पर चढ़ा कर शहर में घुमाया और अन्त में शूली दे दी। रूपचन्द की स्त्री को एक लाख रुपया बालचन्द की सम्पत्ति में से दिलाया गया।

भाइयो ! यह तो एक दृष्टान्त है। इसका आशय यह है कि लोभ के वशीभूत होकर मनुष्य बड़े से बड़ा अकृत्य करने में भी संकोच नहीं करता। लोभ मनुष्य के विवेक पर पर्दा डाल देता है। उस समय उसे भला बुरा कुछ भी नहीं सूझता। बालचन्द ने लोभ के चंगुल में फँसकर मित्र द्रोह किया, विश्वासघात किया, मनुष्य की हत्या की ! परन्तु अन्त में क्या परिणाम निकला ? रूपचन्द का धन तो न रहा सो न रहा, प्राण भी नहीं बच सके। शूली पर चढ़ना पड़ा। अपकीर्त्ति का भी पात्र होना पड़ा।

एक दृष्टान्त और लीजिए। सिद्धि और बुद्धि नाम की दो स्त्रियाँ थीं। नाम तो दोनों के ही बड़े सुन्दर थे, परन्तु थी दोनों अत्यन्त निर्धन। जंगल से छाणे (कंडे) बीन लाती थी और शहर में उन्हें बेचकर किसी प्रकार अपना पेट पालती थी। एक दिन दोनों जंगल में गई तो क्या देखती है कि बड़े-बड़े तम्बू तने हुए हैं। धूम धाम मच रही है। कहीं षट्रस भोजन तैयार हो रहे हैं तो कहीं गाना-बजाना हो रहा है। सुन्दर वस्त्राभूषण पहने मनुष्य बैठे हैं और आमोद-प्रमोद कर रहे हैं। यह सब देखकर प्रथम तो दोनों को भय सा लगा। फिर एक ने दूसरी से कहा—

बहिन, देखो; ये लोग कैसे गुलछर्रे उड़ा रहे हैं। इधर हम हैं जिन्हें पेट के लाले पड़े हैं! दिन भर जुती रहने पर भी पेट भर अन्न नहीं मिलता। जान पड़ता है-हमने पूर्व जन्म में कुछ पुण्य नहीं किया, इसी से आज यह दुःख भोगना पड़ रहा है। पूर्व जन्म की कमाई इस भव में काम आती है। ऐसा विचार करके वे रोने और पछताने लगीं।

उसी समय उधर से एक विद्याधर जा रहा था। दोनों दरिद्राओं की दीन दशा देखकर उसके दिल में दया का उद्रेक हो आया। उसने उन्हें एक मंत्र देकर कहा-छह महीनों तक इसका जाप करने से एक देव प्रकट होगा। उससे तुम जो कुछ भी माँगोगी वह सब तुम्हें देगा। दोनों स्त्रियाँ शुद्ध भूमि में, मन वचन काय की शुद्धिपूर्वक उस मंत्र का जाप करने लगीं। छह महीने में मंत्र का जाप पूरा हुआ। देव प्रकट हुआ। उसने वरदान माँगने को कहा-तब सिद्धि ने कहा-'हे देव! आप प्रसन्न हुए हैं तो पहला वरदान तो यही दीजिए कि जो कुछ मुझे मिले, वही बुद्धि को भी मिले और जो बुद्धि को मिले, वह मुझे भी मिले। इसके पश्चात् सिद्धि ने देव से एक लाख रुपये माँगे। देव ने कहा—'तथास्तु।'

दोनों को एक-एक लाख रुपया मिल गया। उनसे उन्होंने महल बनवाये, बाग-बगीचे लगवाये। वे आनन्द से रहने लगीं। लोग उनका पुण्यप्रभाव देखकर प्रशंसा करने लगे।

मगर लोभ का कहीं अन्त नहीं है। वह आकाश की तरह असीम और काल की तरह अनन्त है। लोभी नहीं जानता कि संतोष किस चिड़िया का नाम है! सौ रुपया वाला हजार चाहता है। हजार वाला लखपति बनना चाहता है। लखपति कोट्यधीश होने की कामना करता है। इस प्रकार लोभ उत्तरोत्तर बढ़ता ही जाता है—

जहा लाहो तहा लोहो, लाहा लोहो पवड्ढइ।
दोमासकयं कज्जं कोडीए वि न निट्ठियं॥

उ. अ. ८ गा. १७

शास्त्र में कहा है कि ज्यों-ज्यों लाभ होता जाता है, त्यों-त्यों लोभ बढ़ता जाता है। असल बात तो यह है कि लाभ से ही लोभ बढ़ता है। लोभवृद्धि का कारण लाभ है। अतएव कारण की अधिकता होने पर कार्य की अधिकता होना स्वाभाविक है।

इस प्रकार जो लोग लोभ की पूर्त्ति के लिए लाभ की इच्छा करते हैं, वे अग्नि को शान्त करने के लिए उसमें ईंधन डालना चाहते हैं।

हाँ, तो जंगल में कंडे बीनने वाली सिद्धि को इतना विशाल वैभव पाकर भी सन्तोष नहीं हुआ। उसे लोभ हुआ कि मैं बुद्धि से आगे क्यों न बढ़ जाऊँ? ऐसा विचार कर उसने बुद्धि से छिप कर पुनः मंत्र का जाप किया। देवता के प्रकट होने पर उसने मांग की-बुद्धि जो कुछ माँगे, उससे मुझे दुगुना मिले। देवता 'तथास्तु' कह कर अन्तर्धान हो गया।

अब समय-समय पर बुद्धि जो कुछ माँगती थी, सिद्धि को उससे दुगुना मिल जाता था। एक दिन बुद्धि ने सिद्धि से इसका कारण पूछा। सिद्धि ने दुगना पाने के वरदान की बात बतला दी तो बुद्धि को बड़ा क्रोध आया। ईर्षा भी हुई। उसने मन ही मन कहा-इस लोभिनी को लोभ का मजा चखाना चाहिए।

तुरन्त ही बुद्धि ने मंत्रजाप करके देवता को बुलाया और उससे माँगा-मेरी एक आँख फूट जाय एक टांग टूट जाय और मेरे घर के द्वार पर बिना ढक्कन का एक चौड़ा कुआ बन जाय। देव ने कहा- तथाऽस्तु।

देव के ऐसा कहते ही बुद्धि की एक आँख फूट गई, एक टांग टूट गई और घर के द्वार पर एक कुआ बन गया। उसी समय सिद्धि की दोनों आँखें और टांगें जाती रहीं। उसके द्वार पर दो कुएं बन गये। अंधी होने के कारण वह उनमें से एक में गिर पड़ी। भाग्यवश किसी ने उसे देख लिया और जीवित निकाला।

जब सिद्धि ने बुद्धि से इसका कारण पूछा तो उसने तमक कर कहा—तुझे मुझसे दूना चाहिए था न ? वही मिल गया है। अब मौज करो।

सिद्धिको लोभ का फल गिया। वास्तव में लोभी मनुष्य की बड़ी दुर्दशा होती है। वह अपना समग्र समय और जीवन अर्थो-पार्जन में ही व्यतीत कर देता है। अर्जित धन का दान या उपभोग वह कर नहीं पाता, केवल उसके संरक्षण एवं संवर्धन में ही संलग्न रहता है।

भाइयो ! जरा विचार करो कि मृत्यु से पहले कभी भी नष्ट हो जाने वाली और मृत्यु के पश्चात तो अवश्य ही छूट जाने वाली सम्पत्ति को जीवन से भी बड़ी वस्तु समझना कहाँ तक उचित है ? अगर ऐसा समझना उचित नहीं है तो फिर लोभाभि-भूत होकर क्यों सम्पत्ति के लिए यह उत्कृष्ट जीवन बर्बाद करते हो ?

जीवन की वास्तविक आवश्यकताएँ अधिक नहीं हैं। यदि कृत्रिम जीवन के बदले सादा जीवन व्यतीत करने की टेव डाल ली जाय तो मनुष्य के सिर की बहुत-सी मुसीबतें कम हो जाएँ।

लोभ कितना प्रबल शत्रु है, यह समझने के लिए लोभ प्रत्यय क्रिया के पश्चात् ईर्यापथिकी क्रिया भी विचारणीय है। यह क्रिया ग्यारहवें, बारहवें तथा तेरहवें गुणस्थानक वाले मुनि-

राजों को होती है। इन तीन गुणस्थानों में उपशान्तमोह और क्षीणमोह मुनि ही पहुँचते हैं, अर्थात् ग्यारहवें गुणस्थान में उपशांत मोह तथा बारहवें और तेरहवें गुणस्थान में क्षीणमोह मुनि होते हैं। मगर कषायों का उदय किसी भी गुणस्थान में नहीं होता। दसवे गुणस्थान तक सूक्ष्मतर लोभ कषाय का उदय बना रहता है। दसवें गुणस्थान में दो प्रकार के मुनि होते हैं—उपशम श्रेणी वाले और क्षपक श्रेणी वाले। मोहकर्म की प्रकृतियों का उपशमन करते हुए आगे बढ़ने वाले उपशम श्रेणी सम्पन्न और मोहकर्म का क्षय करके आगे बढ़ने वाले क्षपक श्रेणी सम्पन्न मुनि कहलाते हैं।

उपशम श्रेणी वाले मुनि दशम गुणस्थान के अन्तिम समय में शेष रहे सूक्ष्म संज्वलन लोभ का उपशम करके ग्यारहवे गुणस्थान में पहुँचते हैं और क्षपक श्रेणी वाले लोभ का क्षय करके सीधे बारहवें गुणस्थान में पहुँचते हैं। उन्हें ग्यारवें गुणस्थान मे नहीं जाना पड़ता। इस प्रकार जब किसी भी कषाय का उदय नहीं रहता, तभी ईर्यापथिकी क्रिया की प्राप्ति होती है।

कषाय का उदय न रहने से नवीन बँधने वाले कर्मों में न स्थिति पड़ती है और न अनुभाव (विपाक) ही होता है। चार प्रकार के बंधों में से स्थितिबंध और अनुभागबंध कषाय के निमित्त से होते है तथा प्रकृति और प्रदेशबंध योग के निमित्त से। यही कारण है कि जब कषाय का उदय नहीं रहता तभी ईर्यापथिकी क्रिया होती है, अतएव इस क्रिया के समय जिस कर्म का प्रथम समय में बंध होता है, उसका दूसरे समय मे ही प्रदेशो से वेदन हो जाता है और तीसरे समय में क्षय हो जाता है। अर्थात इस क्रिया के समय कर्मबंध, कर्मस्थिति और कर्मनिर्जरा की अवधि सिर्फ एक समय की रह जाती है। उस समय आत्मा विशुद्ध अवस्था पर पहुँचा हुआ होता है। मोह का क्षय हो जाने से शेष

चार कर्म निर्जीव-से रह जाते है और इसी कारण कर्मों का फल नि.सत्व जैसा हो जाता है। आत्मा उस समय अपने शुद्ध स्वरूप की झलक देखने लगता है। उस आनन्द का, उस स्वानुभूतिजनित सुख का, कौन अनुमान कर सकता है!

ग्यारहवाँ गुणस्थान आत्मा की पूरी कसौटी की अवस्था है। यहाँ से आत्मा का अध.पतन होता है और अधःपतन होते २ कभी दसवें, नौवें और आठवें गुणस्थान में भी पहुँच जाता है। कभी-कभी वहाँ से फिर आगे बढ़ता है। किन्तु कभी ऐसा भी अवसर आता है कि अधःपतन रुकता नहीं और आत्मा गिरते २ प्रथम गुणस्थान-मिथ्यात्व की दशा तक पहुँच जाता है और नरक का बंध भी कर लेता है।

यह पतन लोभ कषाय के उदय से आरंभ होता है। लोभ का उदय होने पर आत्मा ग्यारहवें गुणस्थान से जो गिरता है सो फिर कुछ भी ठिकाना नहीं रहता। संभल गया तो संभल गया; अन्यथा फिर संसार में परिभ्रमण करता है।

कदाचित ग्यारहवें गुणस्थान में आत्मा की मृत्यु हो जाय तो वह सर्वार्थसिद्ध विमान में उत्पन्न होता है और फिर मनुष्य भव धारण करके मोक्ष प्राप्त कर लेता है!

ग्यारहवें गुणस्थान की अवधि अन्तर्मुहूर्त्त मात्र की है। यह अवधि पूर्ण होने पर आत्मा दसवें गुणस्थान में आता है, जहाँ संज्वलन लोभ का उदय हो जाता है। लोभ के उदय का यह अर्थ नहीं है कि उस समय धन-दौलत या स्त्री-पुत्र आदि की इच्छा करता है, किन्तु वह लब्धियों के लोभ में पड़ जाता है। आठवें गुणस्थान में आमर्षौषधि, विप्रुडौषधि एवं जंघाचारण नामक लब्धियाँ प्राप्त होती हैं और वह आत्मा इन लब्धियों के

कहीं के नहीं रहोगे। अतएव धर्म भ्रष्ट लोगों की संगति न करो। जैसे कोढ़ी की संगति करने से उसका रोग दूसरों को लग जाता है, उसी प्रकार धर्म भ्रष्टों की संगति करने से धर्मभ्रष्टता की भावना उत्पन्न हो जाती है—श्रद्धा डिग जाती है। अतएव आत्म कल्याण चाहने वाले साधक धर्मपतितों से दूर ही रहते हैं।

तात्पर्य यह है कि अनादि काल से आत्मा में अनेक प्रकार के विकार घुस रहे हैं। उन्हें नष्ट करने के प्रयत्न को ही साधना कहते हैं। जिसने इस प्रकार का साधनामय जीवन अंगीकार किया, है, उसे खूब सतर्क, सावधान और जागृत रहना चाहिए। क्षणभर का प्रमाद भी अनर्थ उत्पन्न कर सकता है और चिरकाल की साधना को धूल में मिला सकता है। अतएव निरन्तर विशुद्ध विचारों का सेवन करना ही उचित है। सत्संगति में रहने से विचारों में पवित्रता आती है। अतएव असत् जनों के सम्पर्क से दूर रह कर सन्तसमागम में आना चाहिए। ऐसा करने से ही कषाय के विकार नष्ट हो सकेंगे।

भाइयो! अन्त में एक बात और बतला दूं। पल भर के लिए भी मत भूलो कि मनुष्य जीवन अत्यन्त दुर्लभ है। न जाने किस पुण्य के उदय से यह मिल गया है। इसे सफल और उपयोगी बनाओ। लोभ की वासना को नष्ट करने का सदा प्रयत्न करते रहो, क्यों कि लोभ इस जीवन को कलंकित और पापमय बना देता है। अगर आपने लोभ आदि कषायों को जीतने का प्रयास किया तो इस भव में और परभव में भी आनन्द ही आनन्द होगा।

बम्बई }
१५-९-३१ }

७

कृष्ण-जन्म
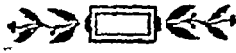
स्तुतिः—

आस्तां तव स्तवनमस्तसमस्तदोषं,
त्वत्संकथापि जगतां दुरितानि हन्ति ।
दूरे सहस्रकिरणः कुरुते प्रभैव,
पद्माकरेषु जलजानि विकाशभाञ्जि ॥

भगवान् ऋषभदेव की स्तुति करते हुए आचार्य महाराज फर्माते हैं-हे सर्वज्ञ, सर्वदर्शी, अनन्तशक्तिमान्, पुरुषोत्तम ऋषभदेव भगवन् ! कहाँ तक आपकी स्तुति की जाय ? हे प्रभो ! कहाँ तक आपके गुण गाये जाएँ ?

श्री ठाणांग सूत्र में श्रमण भगवान् महावीर ने फर्माया है कि इस जगत् में एक ही तत्त्व है, एक ही विचार है। मूलतः तत्त्व एक होने पर भी जगत् में विचारों की जो विविधता देखी जाती है, वह बाह्य कारणों पर अवलम्बित है। आत्मा के परिणामों की

मन पर जो छाप पड़ती है, वह विचार है। यह विचार प्रारंभ में दो भागों में विभक्त किया जा सकता है, जिसे सुविचार और कुविचार कहते हैं। ज्ञानावरण कर्म का क्षयोपशय ही दोनो प्रकार के विचारों की उत्पत्ति का मूल हेतु है; परन्तु उसमें 'सु' अथवा 'कु' विशेपण उत्पन्न करने वाला मोहनीय कर्म है।

मोहनीय कर्म की २८ प्रकृतियाँ हैं। इनमें मूल प्रकृतियाँ दो हैं—दर्शनमोहनीय और चारित्रमोहनीय। दर्शनमोहनीय की तीन और चारित्र मोहनीय की पच्चीस प्रकृतियाँ मिल कर मोहनीय की २८ प्रकृतियाँ होती हैं।

दर्शनमोहनीय कर्म की तीन प्रकृतियां है—मिथ्यात्व मोह, समकित मोह और मिश्र मोह। इन में भी मिथ्यात्व मोह प्रकृति बड़ी जबर्दस्त है। जिस जीव को इसका उदय होता है, उसकी विचारधारा भ्रमपूर्ण बन जाती है और विपरीत दिशा में बहती है। मिथ्यात्व मोह के उदय वाला जीव उलटा ही उलटा सोचता है। उसे सत, असत के रूप में दिखाई देता है और असत, सत के रूप में। इस प्रकार मिथ्यात्वमोहनीय कर्म ही कुविचारों का जनक है। जब उसका क्षय, उपशम या क्षयोपशम होता है, तभी सुविचारों की उत्पत्ति होती है।

विचारों की उत्पत्ति का स्थान मन कहलाता है। मन मे नाना प्रकार के विचारों का उद्भव होता है और वह सदा विचारों को उत्पन्न करता रहता है। आप जरा अपनी तरफ ध्यान दीजिए। अपने मन की चौकसी कीजिए आपको ज्ञात होगा कि आपका मन क्षण भर भी विचार किये बिना नहीं रह सकता। वह निरन्तर विचारों की सृष्टि करने में लगा रहता है। किसी समय शान्त नहीं रहता।

मनुष्य में आत्माभिव्यंजन की वृत्ति स्वाभाविक है। अर्थात् मनुष्य स्वभावतः अपने विचारों को अभिव्यक्त करना चाहता है। मन में जो बात आई है, वह दूसरों पर प्रकट किये बिना उसे चैन नहीं पड़ती। वह अपने विचार दूसरों पर प्रकाशित करता है। दूसरा सुनने वाला व्यक्ति उन विचारों से प्रायः प्रभावित होता है। यदि कोई स्वयं सबल व्यक्तित्व वाला हुआ तो अपने विचारों से उसे प्रभावित कर देता है; यदि ऐसा न हुआ तो स्वयं प्रभावित हो जाता है। प्रभावित होने वाले व्यक्ति के मानस पर उन विचारों की ऐसी छाप पड़ती है कि उसके कार्य भी उसी प्रकार के होने लगते हैं। कहने का तात्पर्य यह है कि साथी जैसा मिलता है, विचार भी वैसे ही हो जाते हैं—सुधर जाते हैं अथवा बिगड़ भी जाते हैं।

तो निमित्तों से विचारों की उत्पत्ति होती है। जैसा निमित्त मिलता है, प्रायः वैसा ही विचार उत्पन्न होता है। यद्यपि यह भी सत्य है कि एक ही निमित्त विभिन्न व्यक्तियों के मन पर भिन्न-भिन्न प्रभाव डाल सकता है और वे उससे परस्पर विरोधी प्रेरणा ग्रहण कर सकते हैं और ग्रहण करते भी हैं, फिर भी इसमें सन्देह नहीं कि प्रायः निमित्त के अनुरूप ही विचार की उत्पत्ति होती है।

आम तौर पर देखा जाता है कि मनुष्य अपने विचार के प्रति श्रद्धाशील होता है। उसे अपना विचार सही जान पड़ता है और अपने विचार से विरुद्ध विचार गलत प्रतीत होता है। वह सोचता है कि मेरे विचार बड़े अच्छे हैं, बहुत ऊँचे हैं और सही हैं। इस आत्मविश्वास का परिणाम यह होता है कि जो उसके विचारों को सन्मान देता है, स्वीकार करता है, उसके प्रति उसका व्यवहार प्रेमपूर्ण हो जाता है और जो व्यक्ति उसके विचारों से असहमत होता है, उसके प्रति द्वेषपूर्ण हो जाता है। इस प्रकार

उसकी आत्मा में राग-द्वेष का अंकुर फूट निकलता है। वह अपने लिए नये कर्मों के बन्धन तैयार कर लेता है और परेशान होता है।

अभिप्राय यह है कि विचार उत्पन्न होते हैं, अवश्य ही उत्पन्न होते हैं, परन्तु जैसा निमित्त मिलता है, वैसे ही वे मलीन या निर्मल, भले या बुरे, बन जाते हैं या बना दिये जाते हैं।

जब संसार में अत्यधिक विचार विभ्रान्ति का प्रसार हो जाता है, और उसके कारण अन्यायों एवं अत्याचारों की असीम वृद्धि हो जाती है, लोगों के पापों और तापों की सीमा नहीं रहती, सत्पुरुष सर्वत्र सताये जाते हैं, धर्म की हानि हो जाती है, आसुरी भावों का ताण्डवनृत्य चारों ओर दिखाई देने लगता है, ऐसे संकट के समय भयातुर प्रजा त्राहि-त्राहि पुकारने लगती है। तब कोई न कोई महाशक्ति कर्त्तव्य के क्षेत्र में अवतीर्ण होती है। वह अपने प्रचण्ड व्यक्तित्व के द्वारा जनता के त्रास का विनाश करती है, अन्याय के स्थान पर न्याय की तथा अधर्म के स्थान पर धर्म की प्रतिष्ठा करती है। वह महाशक्ति का प्रतीक पुरुष अपने अनुपम और अलौकिक त्याग के द्वारा तथा प्रभावशाली कार्य एवं उपदेश से जगत् में एक नयी लहर फैलाता है। एक ऐसी विचारधारा प्रवाहित करता है, जिस की शीतलता से जगत् का संताप समाप्त हो जाता है। वह आसुरी शक्ति को छिन्नभिन्न करके उसके स्थान पर दैवी शक्ति की प्रतिष्ठा करता है। दानवी विचारों की जगह दिव्य विचार पाते हैं। इस प्रकार एक की इति से दूसरे का 'अथ' होता है, अर्थात् दानवीय भावनाओं की जहाँ इति-सम्पूर्णता होती है, वहीं से दैवी भावनाओं का प्रारंभ होता है।

जगत् के इतिहास में यही तथ्य सर्वत्र प्रतीत होता है। अलौकिक दिव्य शक्ति से सम्पन्न यह शक्तियाँ सामान्यतः तीन

प्रकार की होती हैं, जिन्हे तीन प्रकार के पुरुषों के रूप में इस प्रकार कहा जा सकता है—(१) धर्मपुरुष (२) भोगपुरुष और (३) कर्मपुरुष।

(१) धर्मपुरुषः—धर्मपुरुष तीर्थंकर भगवान् कहलाते हैं। प्रत्येक उत्सर्पिणी और अवसर्पिणी काल में चौबीस-चौबीस तीर्थङ्कर महापुरुष होते है। ये महापुरुष तीव्रतर तपश्चर्या के द्वारा आत्मसाधना करते हैं और अपनी आत्मा को चरम-विकास की सीमा पर पहुँचाते है। वे पूर्ण वीतरागता और सर्वज्ञता प्राप्त करके परमात्मदशा प्रतिपन्न हो जाते हैं। फिर निरीह निष्काम भाव से जगत को सत्पथ पर चलने की प्रेरणा देने के लिए देशना देते हैं। यही नहीं, वे संघ की स्थापना करके अपने उपदेशों को स्थायी एवं व्यापक रूप भी प्रदान करते हैं, जिससे उनकी देशना की परम्परा लम्बे समय तक और दूर-दूर तक चलती रहती है। वे अधर्म के स्थानपर धर्म की प्रतिष्ठा करते हैं, धार्मिक अन्ध-विश्वासों को निमूंल करते है, धार्मिक विषमताओं एव संकीर्णताओं को दूर करते हैं, जाति-कुल पूजा के स्थान पर गुण पूजा का महत्त्व स्थापित करते हैं। दया, करुणा, सेवा आदि का उपदेश देते हैं। आत्मा का शुद्ध स्वरूप प्रदर्शित करके उसकी प्राप्ति का समीचीन पथ दिखलाते हैं।

(२) भोगपुरुषः—चक्रवर्ती भोगपुरुष कहलाते है। वे अपने भुजबल से भारतवर्ष के छहों खण्डों पर अपनी विजय-पताका लहराते हैं और सर्वत्र अखण्ड शासन स्थापित करते हैं। प्रजा को सुशासन के द्वारा सुखी बनाते हैं। अन्याय-अनीति से बचाकर शान्ति स्थापित करते हैं। प्रत्येक उत्सर्पिणी और अव-सर्पिणी काल में बारह-बारह चक्रवर्ती या भोगपुरुष होते हैं।

३) कर्मपुरुषः—वासुदेव कर्मपुरुष कहलाते हैं। यह प्रत्येक उत्सर्पिणी और अवसर्पिणी में नौ-नौ होते हैं। इनका शासन तीन खंडो पर होता है, अतएव इन्हें अर्धचक्रवर्त्ती भी कहते हैं। वासुदेव अपने समय की विषमता को नष्ट करके, समता की स्थापना करने के लिए प्रचण्ड पराक्रम करते हैं। साम, दाम, दंड और भेद नीतियो का आश्रय लेते हैं। ये लातों से समझने वालों को लातों से समझाते हैं, वातों से समझने वालों को बातों से समझाते हैं। सोटे का जवाब सोटे से और बातों का उत्तर बातों से देते हैं और जगत् की बिगड़ी अवस्था को सुधारते है। वैष्णव धर्म इन्हें अवतार के नाम से अभिहित करता है। जैनधर्म के अनुसार ये महापुरुष, पुरुषोत्तम, वासुदेव या मर्यादापुरुषोत्तम कहलाते हैं।

अभिप्राय यह है कि धार्मिक एवं आध्यात्मिक दशा को सुधारने के लिए धर्मपुरुष प्रयत्नशील होते हैं। अथवा यों कहिए कि जो परमात्मपुरुष आध्यात्मिक उत्कर्ष एवं लोकोत्तर उन्नति का पथ प्रदर्शित करते हैं, वे धर्मपुरुष कहलाते है। तथा जो लौकिक अवदशा को दूर करते हैं, समाज में फैले अन्यायों-अत्याचारों का दमन करते हैं और प्रजा के ऐहिक जीवन को सुख शान्ति से परिपूर्ण बनाते हैं, वे भोगपुरुष या कर्मपुरुष कहलाते हैं।

वैष्णवधर्म के अनुसार गीता में ऐसे महापुरुषों के आविर्भाव के संबंध मे कहा है:—

यदा यदा हि धर्मस्य, ग्लानिर्भवति भारत।
अभ्युत्थानमधर्मस्य, तदात्मानं सृजाम्यहम्॥
परित्राणाय साधूनां, विनाशाय च दुष्कृताम्।
धर्मसंस्थापनार्थाय, संभवामि युगे युगे॥

इन श्लोकों का आशय यह है कि जब-जब लोगों के मन में धर्म के प्रति ग्लानि का भाव उत्पन्न होता है और अधर्म का उत्कर्ष हो जाता है, तब ऐसी महाशक्तियाँ आविर्भूत होती हैं। वे अपने प्रबल पुरुषार्थ और पराक्रम से साधुजनों की रक्षा करती हैं, दुष्टों का दमन करती हैं और अधर्म की जगह धर्म की स्थापना करती हैं।

प्रत्येक युग में यही हुआ करता है। जगत परिवर्त्तनशील है। यहाँ लम्बे समय तक एक-सी स्थिति नहीं रहती। कभी सुख और शान्ति का संचार होता है, तो कभी दुःख, अशान्ति, अनीति, अत्याचार और विषमता का प्रचार होने लगता है। जब यह अन्तिम स्थिति उग्र रूप धारण कर लेती है, तो ऐसी कोई शक्ति कार्य-क्षेत्र में अवतरित होती है।

जैसे सूर्य के उदय से पूर्व ही सूर्य की प्रभा अंधकार का विनाश करने लगती है, उसी प्रकार ऐसे महापुरुषों का उदय होने से पहले ही दुनिया को उनका आभास मिलने लगता है। प्रति-द्वंद्वी शक्तियों के दिलों में एक अनोखे और आगे आने वाले आतंक की परछाई-सी पड़ने लगती है। सन्त जनों के हृदयों में अकस्मात् ही एक विचित्र प्रकार का उल्लास प्रतीत होने लगता है।

भाइयो! आज का दिन भी एक ऐसे ही कर्मवीर पुरुष के जन्म का दिन है। आज के दिन (भाद्रपद कृष्णा अष्टमी को) मर्यादापुरुषोत्तम श्रीकृष्ण महाराज का जन्म हुआ था, जिन्होंने जगत् में शान्ति एवं सुख की पुनः संस्थापना की थी। इसी कारण यह अष्टमी कृष्णाष्टमी, जन्माष्टमी या कृष्णजन्माष्टमी कहलाती है।

मर्यादापुरुष कृष्णजी यदुवंशी महाराज वसुदेव के घर जन्मे थे। इनकी माता का नाम देवकी था। माता-पिता मथुरा

मे रहते थे। उस समय मथुरा के राजा उग्रसेन थे। उसी समय सौरीपुर मे समुद्रविजय नामक राजा थे। उनके नौ भाई और थे, पर उन सब में बड़े उग्रसेन ही थे। सब से छोटे का नाम वसुदेव था। वसुदेव अकसर अपने बड़े भाई के पास ही सौरीपुर में रहा करते थे परन्तु कभी-कभी मथुरा भी आ जाते और रहते थे। मथुरा नरेश उग्रसेन की पुत्री का विवाह वसुदेव के साथ हुआ था।

मथुरा-नरेश का पुत्र कंस था। वह बाल्यावस्था से ही अनीतिमान् और अत्याचारी था। साधु-सन्तो का कट्टर शत्रु था। उसी समय भरत प्रतिवासुदेव जरासंध था। कंस की आयु बढ़ी तो वह अपने समय के राजकुमारों मे बड़ा ही योद्धा और बलशाली माना जाने लगा। जरासंध ने कंस के बल विक्रम की बड़ाई सुनी। उसने अपनी लड़की जीवयशा का कंस के साथ विवाह कर देने का विचार किया। राजा उग्रसेन के पास यह संदेश पहुंचाया गया। उग्रसेन ने प्रसन्नतापूर्वक इस संबंध को स्वीकार कर लिया। नियत समय पर विवाहविधि सम्पन्न हो गई। अन्त में जरासंध ने अपने जामाता कंस को संतुष्ट करने के लिए कहा—'मैं आज तीन खण्ड का एकच्छत्री राजा हूँ। बल और पुरुषार्थ का धनी हूँ। समस्त मांडलिक राजागण मेरे इशारों पर चलते हैं। अतएव आज, दहेज मे जो चाहो सो माँग लो। मैं प्रसन्नतापूर्वक तुम्हारी इच्छा पूर्ण करूँगा।'

इसके उत्तर में कंस ने कहा—'मुझे आज और किसी चीज़ की इच्छा नहीं है, सिर्फ यही अभिलाषा है कि मैं मथुरा का राजा बनूँ।'

जरासंध हँसकर बोला—'प्यारे! मथुरा का राज्य तो मेरे आश्रित तुम्हारे पिता के पास है ही। उसे मैं तुम्हे क्या दूं?

तुम्हारे पिता की सम्पत्ति तो तुम्हारी ही है। कोई दूसरी वस्तु माँगो या कोई बड़ा राज्य माँगो। मैं तत्काल आपके मन की मुराद पूरी करूँगा।'

कंस की त्यौरी चढ़ गई। वह अनमना हुआ और बोला हाँ, आपका कहना ठीक है। मथुरा का राज्य मेरी बपौती का है। वह मुझे ही मिलेगा परन्तु पिता की मृत्यु के पश्चात ही तो मैं उसका अधिकारी हो सकूँगा किन्तु मैं तो आज ही मथुरा की राजगद्दी का अधिकारी बनना चाहता हूं। अतएव कुछ देना है तो यही दीजिए और उसका ही उपाय कीजिए।'

जरासंध ने जामाता को अप्रसन्न करना उचित न समझा। उसने कंस के कथनानुसार फर्मान लिख दिया। कंस अत्यन्त प्रसन्न होकर अपनी नवविवाहिता पत्नी के साथ मथुरा की ओर चल पड़ा। उसके साथ जरासंध का लिखा फर्मान भी था, जिस पर उसका भाग्य अवलंबित था।

कंस ने मथुरा में पहुंच कर अपने पिता से विगाड़ करना शुरु कर दिया और आखिर एक दिन उन्हें गादी से हटा दिया। आप स्वयं राजा बन बैठा। वह इतना करके ही चुप न रहा, वरन् उसने अपने परम पूजनीय पिता को पींजरे में कैद कर दिया। उसने वह पींजरा राजमहल के फाटक पर रखवाया और मथुरा में सर्वत्र अपनी दुहाई फेरी।

महाराज उग्रसेन की अपने ही पुत्र द्वारा हुई यह दुर्दशा देख देख कर लोग मन ही मन कंस के घोर अत्याचार और पितृद्रोह की निन्दा करते थे। वे हृदय से उसे कोसते थे। उसके बढ़ते हुए अत्याचारों का विचार करके, उनसे घबरा कर, राज्य से निकल भागने की सोचते थे। मगर कंस की धाक ऐसी थी कि

कोई चूं नहीं कर सकता था। सब के विचार और सब की घृणा मन में ही समायी रहती थी। वे सोचते-जो कंस अपने बाप का न हुआ, वह किसका होगा? जिसने अपने पिता के प्रति ऐसा निन्दनीय और जघन्य व्यवहार किया, क्रूरता की हद कर दी, वह अपनी प्रजा के साथ यदि कठोर एवं निर्दय व्यवहार करे तो आश्चर्य की बात ही क्या है? वह कौन-सी अनोखी अथवा अनहोनी बात होगी! इसके अतिरिक्त-वे लोग यह भी सोचते थे कि कंस का अत्याचार इतना बढ़ गया है कि उसके दमन के लिए कहीं न कहीं, कोई न कोई, महाशक्ति उदित होनी ही चाहिए। जगत् मे धर्म और अधर्म, धर्मी और पापी सदा से होते आये हैं। कहावत भी प्रसिद्ध है—'जब से धर्म, तब से कर्म।' इसी प्रकार जब से राज्य तभी से प्रजा, जब से धूप तब से छाया, जब से नरक तब से स्वर्ग, जब से अमीर तब से गरीब, जब से मीठा तभी से कड़ुवा। जगत में सदा से ही यह द्वन्द्व चला आरहा है। ऐसा न होता तो लोग सद्धर्म, सत्कर्म, सज्जन और सद्गुण आदि के मर्म और महत्त्व को कभी न समझ पाते। असद्धर्म और असत कर्म आदि की बदौलत ही सद्धर्म और सत्कर्म आदि की प्रख्याति और महत्ता है। पापियों के पाप और अत्याचारियों के अत्याचार की शान पर जितने अधिक अधिक ये कसे जाते हैं, शुद्ध सोने की भांति, जगत् इनका प्रकाश देखता है और अनुभव करता है। अत्याचारियों की इस कसौटी के द्वारा ही वे अपने उज्ज्वलतर रूप को प्रकट कर पाते हैं। अतएव यह द्वन्द्व जगत् में अनिवार्य होने के साथ ही साथ उपयोगी भी है।

इधर कंस के मन में अहंकार की मात्रा दिनोंदिन चढ़ती ही जा रही थी। प्रथम तो उसे अपने जबर्दस्त श्वसुर के राज्य, बल, पौरुष और पराक्रम का नशा था ही, तिस पर अविवेक, यौवन,

प्रभुता और धन का नशा उसे और चढ़ गया। 'नीम और गिलोय चढ़ी' की कहावत चरितार्थ हो रही थी। एक नीतिकार ने कहा है-

यौवनं धनसम्पत्तिः प्रभुत्वमविवेकिता।
एकैकमप्यनर्थाय, किमु यत्र चतुष्टयम् ॥

अर्थात्—यौवन, धनसम्पदा, प्रभुत्व-अधिकार और अविवेक, इनमें से एक-एक के द्वारा भी घोर अनर्थ होने की संभावना रहती है, तो जहाँ चारों इकट्ठे हो जाएँ, वहाँ तो कहना ही क्या है!

कंस के पास यह चारों थे। जवानी का होश से रहित जोश था। वह राज्य का स्वामी था। धनी था। जी हुजूरी करने वाले चाटुकारों के कुसंग से अविवेक की मात्रा की भी कमी नहीं थी। इस प्रकार चाण्डाल-चौकड़ी की उपस्थिति में अनर्थ की सम्पूर्ण सामग्री विद्यमान थी, किसी बात की कमी नहीं थी।

उसके अत्याचारों से और क्रूरतापूर्ण व्यवहारों से प्रजा पीड़ित हो उठी। मगर कंस अभिमान के नशे में मस्त था। बिच्छू द्वारा डँसे हुए, प्रेत बाधा से सताये हुए और ऊपर से शराब पिलाये हुए बन्दर की जो हालत होती है, वही कंस की हालत थी। यह मानों उसके सर्वनाश की चुनौती थी।

इस प्रकार कुछ दिन व्यतीत हो जाने पर एक बार कंस ने ज्योतिषियों को बुलाकर पूछा—'क्या आज संसार में कोई ऐसा है जो मेरा मुकाबिला कर सके? ज्योतिषियो! गिनो अपना मीन-मख कन्या तुला और बतलाओ ज्योतिष का कुछ चमत्कार!'

ज्योतिषी मन ही मन कहने लगे-कितना अभिमान है! कितने ऊँचे बोल हैं। इसे तनिक भी भान नहीं है कि—'नाचत काल कराल सिर!' बुझते हुए दीपक की तरह मृत्यु के मुख की

ओर दौड़ता हुआ कंस कैसा लपलपा रहा है ! इसी लक्षण से प्रतीत होता है कि इसके अभिमान और आयुष्य की समाप्ति के दिन दूर नहीं हैं।'

धन्य अभिमान ! लोगों को पछाड़ना तुझे खूब आता है। तेरे कारण जगत् को बार-बार नाना प्रकार के कष्ट सहने पड़ते हैं। तू किसी विद्वान् के सिर पर सवार होकर उससे सत्पुरुषों का तिरस्कार करवाता है। जिन्हें फँसाने वाली विद्या नहीं आती, अतएव बाहरी दृष्टि से जो अशिक्षित गिन लिये जाते हैं, किन्तु जिन्होंने साधना के हेतु अपना जीवन समर्पित कर दिया है, अनुभव-ज्ञान प्राप्त किया है, उन सच्चे तत्त्वज्ञानियों की शरण में जाकर, उनकी अन्तःकरण से निकलने वाली सद्वाणी को सुनने से रोकने वाला तू ही है। तू धनवान् के दिमाग में घुसकर बड़े २ अनर्थ करवाता है। तू ही सत्संगति में जाने में अपमान का अनुभव करवाता है। पद और उपाधि के रूप में आकर तू लोगों की आँखें आठों पहर लाल रखता है। सुजनता, नम्रता, कोमलता आदि को तो तू अपने पास फटकने भी नहीं देता। प्रभुता और ठकुराई के रूप में आकर तू अपने सरल हृदय नौकरों से, गरीब जनों से, प्रेम के दो बोल भी नहीं बोलने देता ! जैसे उनका मुँह बाँध देता है ! जाति, वर्ण या कुल के रूप में जब तू किसी के दिल में प्रवेश करता है तो अपने ही समान, छोटी जाति या वर्ण के कहलाने वाले, मनुष्यों को पददलित करवाता है, मानवता का तिरस्कार करने की प्रेरणा देता है और जात-पाँत के सामने गुणों की अवज्ञा करवाता है। एक शासक के रूप में तू ही रोती, बिसूरती और भूखों मरती प्रजा पर तरह-तरह के अत्याचार करवाता है। आमोद-प्रमोद और विलास की सामग्री के संग्रह के लिए गरीबों की झोंपड़ियाँ जलाने और उन्हें तहसनहस करने की प्रेरणा तू ही

देता है। तू ही है जो लोगों को अनेक प्रकार से महापापों में प्रवृत्त करता है। यह तेरी ही कृपा का फल है कि संसार अपने अक्खड़पन से ऐंठ जाता है, गुरुजनों का भी द्रोही बन जाता है, माता-पिता के प्रति कुत्सित व्यवहार करवाता है और अपने सामने दूसरों को नगण्य, तुच्छ एवं नाचीज़ समझने लगता है। रे अभिमान! कहाँ तक कहें? तेरे राज्य मे जो अनर्थ, जो अन्याय, जो दुष्कृत्य और जो पाप न हो जाएँ सो ही थोड़े हैं! तेरा सहारा पाकर ही कंस आज गरज रहा है।' कहा भी है:—

मै हूँ मथुरा का बांका राजवी, मेरा नाम कंस है ॥ टेर ॥
विस्तृत राज्य भूमि है मेरी, दल बल सुभट महान।
सारे मृत्यु लोक का स्वामी, ऋद्धि इन्द्र समान है ॥ १ ॥

मेरा सामना कौन करे, किस जननी ने सुत जाया।
पाप पुण्य ईश्वर नहीं मानू, करूँ सदा मन चाया है ॥२॥

हाँ, तो ज्योतिषियों ने कहा—महाराज! ग्रहों की स्थिति से तो ऐसा प्रतीत होता है कि इस पृथ्वी पर कोई महापुरुष प्रकट होना चाहिए।

कंस—उसके संबंध में कोई विशेष बात बतलाओ।

ज्योतिषी—महाराज! वह यदुवंश का उद्धारक होगा और आपका विनाशकर्त्ता भी होगा।

कंस—बस, इतना ही? अरे, और कुछ चिह्न बताओ उसके।

ज्योतिषी—वह कालिया नाग को नाथेगा। केशी, अघासुर, बकासुर आदि का वध करेगा। कुवलिया हाथी के दांत उखाड़ेगा। अन्य अनेक अप्रतिम शूरवीरता के काम करेगा। उसी के हाथ से आपका भी............

कंस—और कुछ ?

ज्योतिषी—वह शार्ङ्ग धनुष को चढ़ाएगा, तीनों खंडों पर राज्य करेगा। वासुदेव कहलाएगा। माता, पिता और नाना को बन्धन से छुडाएगा। गोपाल कहलाएगा। साधु-सन्तों की रक्षा करेगा। जरासंध के फूलों की माला को कुम्हला देगा।

कंस—वह कहाँ जन्म लेगा ?

ज्योतिषी—महाराज ! यह बात मत पूछिए।

ज्योतिषी मन ही मन विचार करते हैं—इस हत्यारे को स्थान का पता लग जाएगा तो संबद्ध लोगों को व्यर्थ सताएगा। किन्तु इसके प्रश्न का उत्तर न दें तो हमारे प्राणों का ग्राहक बन जाएगा। बड़ा ही कठिन समय उपस्थित है। इधर कुआ उधर खाई है !

अन्त में ज्योतिषियों ने निश्चय किया-सोच-विचार की आवश्यकता ही क्या है ? वह महापुरुष अतिशय पुण्यशाली और प्रभावशाली होगा। उसके सामने इसकी कुछ न चलेगी। अन्त में उसके प्रति इसका विरोध ही इसका विनाश करेगा। वह अपने माता-पिता आदि को सताने का पूरी तरह बदला ले लेगा।

यह सोचकर ज्योतिषियों ने कह दिया-'वह मथुरा में, यदुवंशी वसुदेव के घर, देवकी के उदर से जन्म लेगा।'

यह भविष्यवाणी सुनकर कंस का कलेजा काँपने लगा। उसका धैर्य, साहस और विक्रम न जाने कहाँ गायब हो गया ! उसने ज्योतिषियों को विदा किया और अपनी प्राणरक्षा के उपाय खोजने लगा !

इसी प्रकार कुछ समय व्यतीत हो गया। एक दिन कंस के छोटे भाई, जो कंस की कुटिल नीति को देखकर, विरक्त हो गये

और साधु बन गये थे, भ्रमण करते-करते मथुरा में पहुँचे। वे भिक्षा के लिए अपने भाई के घर गये। उस समय कंस की पत्नी जीवयशा, देवकी का सिर गूंथ रही थी। अपने देवर को साधुवेष में देखकर वह बड़बड़ाने लगी-'मेरे पति राज्य करते हैं और तुम भीख माँगते फिरते हो! क्यों अपने कुल को लजाते हो? क्यों पराये अन्न से पेट पालते हो? कुछ करते नहीं बनता तो मत करो। रोटियों की कमी नहीं है। इस भिखारीपन को अब भी छोड़ दो!'

क्यों न हो, जिसका पति घमंडी हो, वह स्त्री भी क्यों न घमंडी होगी? जैसा ठाकुर वैसा चाकर! पर मुनि ने अपनी भौजाई के कटुवाक्य सुनकर भी रोष नहीं किया। वह थोड़ी देर शान्त रह कर बोले-जीवयशा, अभिमान मत करो। अभिमान विनाश का प्रतिनिधि है। जान पड़ता है तुम्हारा विनाश ही तुम्हारे मुख से ऐसी बातें कहला रहा है। संसार में सर्वत्र 'मेरा ही मेरा' की ध्वनि सुनाई दे रही है। परन्तु मनुष्य को सोचना चाहिए कि मेरा है क्या? जीव खाली हाथ ही इस धराधाम पर आता है और खाली हाथ ही, नंगा का नंगा, यहाँ से जाता है। जो आया है, उसे जाना ही पड़ेगा। असंख्य-अनन्त चक्रवर्ती, तीर्थंकर आदि महापुरुष अब तक यहाँ आये, परन्तु आज वे कहाँ हैं? सभी को शरीर त्याग करना पड़ा-सभी को जाना पड़ा। जो फूल खिलता है, कुम्हलाने के लिए ही खिलता है। सूर्य अस्त होने के लिए ही उदित होता है। तुम्हारे सुहाग का चूड़ा भी, जिस पर तुम्हें इतना अभिमान है, अमर रहने वाला नहीं है। वह जाने वाला है। आज तुम जिसका सिर गूँथ रही हो, वही तुम्हारे पति के काल की जननी होगी। मैं कोई शाप नहीं दे रहा, भविष्य की सुनिश्चित घटना बतला रहा हूँ। बतलाने का उद्देश्य यही है कि तुम प्रमाद में न पड़ी रहो, सावधान हो जाओ। बन सके तो

अपना और दूसरों का कुछ भला कर लो। मेरा अनुरोध है कि कुमति का त्याग करो। सन्मार्ग ग्रहण करो। इस अल्पकालीन जीवन का सदुपयोग कर लो, इसे वृथा न गँवाओ और इसके द्वारा पापों की गठरी भारी मत बनाओ। कालचक्र माथे पर घूम रहा है और समझ लो कि वह गिरना ही चाहता है।'

इतना कहकर और सावचेत करके मुनि चले गये। इतने में वहाँ कंस का आगमन हुआ। जीवयशा ने नमक-मिर्च लगा-कर बात का बतंगड़ बना कर, मुनि की सब बातें कंस को कह सुनाई। अपने कहे हुए कटु वाक्यों को छिपाते हुए उसने कहा—आपके भाई ने मुझे कई गालियाँ भी दीं और शाप भी दिया। वह जल्दी से चल दिये, अन्यथा अभी उन्हें मजा चखा देती।'

अपनी पत्नी की बात सुनकर कंस ने कहा—चिन्ता मत करो। मुनि यहाँ पधारे, यह अपना अहोभाग्य था। आहार-पानी से तुमने उनका सत्कार किया होता तो अच्छा था। 'भावि चेन्न तदन्यथा' अर्थात् जो होनहार है, पलट नहीं सकता। हमें डट कर अपना काम करना है। आज किसी का सामर्थ्य नहीं जो मेरा मुकाबिला कर सके।

अपनी पत्नी को जिस समय कंस वचन से आश्वासन दे रहा था, उसी समय उसका हृदय व्याकुल हो रहा था। मुनि की बात सुनकर वह थर्रा उठा था। अब उसे अपने विनाश में जरा भी सन्देह नहीं रहा था। वह सोचने लगा—पहले तो ज्योतिषियों की ही भविष्यवाणी थी, अब मुनिराज की भी भविष्यवाणी हो गई। आश्चर्य तो यह है कि दोनों का भविष्य-कथन बिलकुल मिलता-जुलता है। अतएव उसकी सत्यता में तनिक भी सन्देह नहीं रहता। मगर जो होगा सो देखा जाएगा!

इस प्रकार विचार कर कंस अपने बहिनोई के पास गया। उसके बहिनोई वसुदेवजी बड़े ही जुआरी थे। शर्त लगाकर उसने उनके साथ जुआ खेलना शुरु किया। शर्त यह लगाई गई कि जो जीतेगा, उसे हारने वाले के सात गर्भों (सन्तानों) पर अधिकार होगा वह जीतने वाले को दिये जाएँगे। भूलना नहीं चाहिए कि ज्योतिषियों के कथनानुसार देवकी के सातवें गर्भ में ही कंस का काल जन्म लेने वाला था। मुनि के कथनानुसार देवकी के उदर से आठ बड़े ही प्रतापी भारतभूषण पुत्र उत्पन्न होने वाले थे।

हाँ, तो जुआ आरंभ हुआ। वसुदेव पराजित हुए। शर्त के अनुसार उन्हें अपने सात गर्भ देने का वायदा करना पड़ा। इससे कंस को कुछ सान्त्वना मिली। उसने सोचा-जब सब गर्भों के बालक ही मुझे मिल जाएँगे और जन्म लेते ही मैं उनका काम तमाम कर दूंगा, तब देवकी के सातवें या आठवें गर्भ से उत्पन्न बालक के द्वारा कैसे मेरा विनाश होगा ?

समय आने पर देवकी और वसुदेव दोनों को कंस ने बन्धन में डाल दिया। उनके चारों ओर कड़े से कड़ा पहरा लगा दिया। बड़े-बड़े चौकीदार, कामदार, थानेदार, नामदार, नम्बरदार, फौजदार आदि कई ओहदेदार और पर्वतसिंह, पहाड़सिंह, दूल्हेसिंह, रक्खूसिंह, टक्खूसिंह, खड्गसिंह, खाटसिंह, पाटसिंह आदि बड़े-बड़े सिंहों को कंस ने सदा सावधान रहने की सूचना दे दी। उनकी निगरानी के लिए भी व्यवस्था कर दी।

अन्तगड़ सूत्र में उल्लेख है कि देवकी के एक के बाद एक यों छह पुत्र हुए। प्रत्येक बार देवकी ने सिंह का स्वप्न देखा। मगर सातवीं बार के गर्भ के समय के स्वप्न उसे अनोखे जान पड़े। इस बार उसे सात स्वप्न आये—उसने फहराती हुई ध्वजा देखी, पद्मा

से सुशोभित सरोवर देखा, और भी इसी प्रकार की शुभसूचक वस्तुएँ देखीं। इस बार देवकी का हृदय हर्ष से नाचने लगा। दम्पती के चित्त में अकस्मात् ही आह्लाद होने लगा। उन्हें ऐसा प्रतिभासित होने लगा कि हमारे बन्धनमुक्त होने के दिन दूर नहीं है। देवकी को विश्वास हो गया था कि मेरे इस गर्भ का बालक बडा ही तेजस्वी, वीर, पराक्रमी और साधु-सन्तों का प्रतिपालक होगा। किसी भी उपाय से इसकी रक्षा करनी चाहिए। यही बालक कंस को उसकी करतूतों का मजा चखाएगा।

देवकी ने यह भी विचार किया-गोकुल में नन्द अहिर की पत्नी यशोदा मेरी सखी है। उससे गर्भ बदलने की बात पहले हो भी चुकी है। संयोग की बात है कि वह भी मेरे साथ ही गर्भवती हुई है। अतएव इस बार के बच्चे को किसी तरह उसके पास पहुँचा दिया गया तो सहज ही बालक की रक्षा हो जाएगी और फिर सब काम बन जाएगा।

इसी प्रकार सोचते विचारते एक मास बीता, दो मास बीत गये और तीसरा मास भी व्यतीत हो गया। कंस से छह पुत्रों का बदला लेने की उसकी भावना बहुत बलवती थी। एक दिन उसने वसुदेव की तलवार म्यान से बाहर निकाली और उसमें अपना चेहरा देखने लगी। इतना ही नहीं, तलवार लेकर वह आगे बढ़ी। वसुदेव ने उसका हाथ पकड़ कर रोका और पूछा कि तलवार लेकर कहाँ जा रही हो? तब देवकी ने त्यौरियाँ चढ़ा कर कहा—मैं कंस को मारने जा रही थी।

वसुदेव ने देवकी को समझाया—ऐसी मूर्खता मत करो। हम लोग अभी बंधन मे पड़े हैं और शत्रु का जबर्दस्त पहरा है। वह अपरिमित बलशाली है। इस समय तनिक गड़बड़ करने से घोर अनर्थ होने की आशंका है

देवकी मन मसोस कर रह गई। आखिर गर्भ के दिन पूरे हुए और प्रसव काल सन्निकट आ गया। जिस दिन श्रीकृष्णजी का जन्म हुआ, भाद्रपद कृष्णा अष्टमी का दिन था।

जन्म के पश्चात् की अनेक घटनाओं का वर्णन, जैसे जन्म समय की स्थिति, जन्म, यशोदा के गर्भ से देवकी के गर्भ का परिवर्त्तन, गोकुल में कृष्णजी की बाललीला, अनेक असुरों का बध, कुमार अवस्था में मथुरा में आगमन, उनके द्वारा कंस का निधन, माता, पिता और नाना को बन्धन से मुक्त करना आदि आदि का, जैन ग्रंथों और वैष्णव ग्रंथों में प्रायः समान-सा ही है। हाँ, दोनों परम्पराओं के विचारों में भिन्नता अवश्य है और इसका कारण दोनों परम्पराओं के सिद्धान्तों का भेद है। जैनधर्म अहिंसा-प्रधान है, जबकि वैदिकधर्म में हिंसा से इतना परहेज नहीं है।

इस प्रकार दुनियां में जब-जब अन्यायों अत्याचारों की वृद्धि हुई, तब तब अवश्यमेव उसका प्रतिरोध करने के लिए कोई महापुरुष सामने आया। अतीत में ऐसा हुआ है और भविष्य में भी ऐसा ही होगा। जब रावण के अत्याचार बढ़ गये थे तो राम और लक्ष्मण सामने आये थे। इसी प्रकार कंस के समय कृष्ण पधार गये। दूर क्यों जाते हो? आज अंगरेज गवर्नमेंट का अत्याचारी शासन अपना पाँव-पसारा कर रहा है तो गांधीजी जैसे महान् पुरुष भी इस जगत् में आ गये हैं। यह राम-रावण, कृष्ण-कंस एवं गवर्नमेंट-गांधी की एक ही राशि को विरोधी शक्तियाँ सदा से जुटती आई है।

जैनधर्म के अनुसार कृष्णजी त्रेसठ शलाका पुरुषों में गिने जाते हैं। वे मर्यादापुरुषोत्तम थे, कर्मवीर पुरुष थे, वासुदेव थे। वैष्णव उन्हे अवतार के रूप में स्वीकार करते हैं। श्रीकृष्णजी

भगवान नेमिनाथ के समय में उत्पन्न हुए थे। उन्होंने जैनधर्म की महान् सेवा की है और बहुत कुर्बानी की है। अतएव जैनधर्मी उनका एक महान पुरुष के रूप में आदर करते हैं।

कंस अपने-आपको सब से बड़ा समझता था। उसका खयाल हो गया था कि उसके समान सारे संसार में दूसरा कोई है ही नहीं। पर 'सेर को सवा सेर' की कहावत चरितार्थ करते हुए कृष्ण ने उसका अहंकार चूर कर दिया-सारी मस्ती हटा दी।

संसार के भव्य प्राणियो! आप कभी अभिमान के अधीन न हों। अपने आगे दुनिया को नाचीज न समझें। अपने को अद्वितीय और असाधारण न मानें। ऐसा करने से मनुष्य अपनी असलियत को भूल जाता है और अपनी त्रुटियों को भूल जाता है। फिर ऐसा समझना सचाई के लिहाज से भी गलत है। संसार बहुत लम्बा-चौड़ा है। एक से एक पुण्यशाली पुरुष यहाँ मौजूद हैं। अतएव अपने आपको भ्रम में रखना उचित नहीं है। इस विशाल विश्व में परमात्मा ही सब से बड़ा है। सदा उसी के आदेश-उपदेश के अनुसार चलो और अपने वास्तविक रूप को समझने का प्रयास करो।

भाइयो! इस कथा से आपको अपने जीवन के लिए उपयोगी शिक्षा ग्रहण करनी चाहिए। कथा, कथा के लिए ही नहीं होती। कथा का उद्देश्य शिक्षा देना है। जो साधारण योग्यता के लोग तात्त्विक विवेचना की गंभीरता को नहीं समझ सकते, उन्हें कथा द्वारा तत्त्व समझाना उपयोगी होता है। कृष्णजी की कथा काफी लम्बी है। थोड़े से समय में, एक दिन के ही प्रवचन में, उसे पूरी तरह नहीं कहा जा सकता।

कृष्णजी की दयालुता की कथा प्रसिद्ध है। भगवान् नेमिनाथ की वन्दना के लिए जाते समय जरा-जर्जरित एक वृद्ध ईंटे उठा रहा था। ईंटों का बड़ा ढेर उसके सामने था। कृष्ण ने सोचा- बेचारा वृद्ध कहाँ तक यह ढेर उठाएगा! उन्हे यह खयाल न आया कि मैं तीन खण्ड का नाथ होकर छोटा-सा काम कैसे करूँ! अन्तःकरण में करुणा का संचार हुआ और वे हाथी के हौदे से उतरे। स्वयं अपने हाथ से एक ईंट उठाई और वृद्ध को जहाँ रखनी थी, वहाँ रख दी। फिर क्या था! साथ की सेना ने भी उनका अनुकरण किया और अनायास ही बूढे का काम हो गया! ऐसे दयालु थे कृष्णजी! वह अत्याचारियों के लिए काल थे तो दीनों के लिए दयाल थे।

उनका धर्म प्रेम भी प्रशंसनीय था। एक वार उन्होंने आम घोषणा करवाई थी कि भगवान अरिष्टनेमि के समीप दीक्षित होने वाले पुरुषों का पालन-पोषण वह स्वयं करेंगे। उनकी यह घोषणा सुनकर एक हजार पुरुषों ने दीक्षा ग्रहण की थी!

उनके पराक्रम की तो अनेक कथाएँ प्रसिद्ध हैं। धातकीखंड द्वीप में जाकर पद्मरथ राजा द्वारा अपहरण करवाई गई द्रौपदी को वापिस लाने में उन्होंने अद्भुत वीरता दिखलाई थी। वे बड़े ही गुणग्राहक, नीतिनिपुण, धर्मज्ञ, दयालु, शान्तिसस्थापक और उदार महान् पुरुष थे। उनके जीवन से आप सुशिक्षाएँ ग्रहण करेंगे तो आनन्द ही आनन्द होगा।

बम्बई
७-६-३१

८
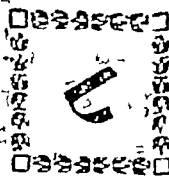
चार दिनों की चांदनी
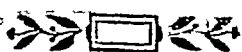
स्तुतिः—

नात्यद्भुतं भुवनभूषण ! भूतनाथ !
भूतैर्गुणैर्भुवि भवन्तमभिष्टुवन्तः ।
तुल्या भवन्ति भवतो ननु तेन किं वा,
भूत्याऽऽश्रितं य इह नात्मसमं करोति ॥

भगवान् ऋषभदेव की स्तुति करते हुए आचार्य महाराज फर्माते हैं—हे सर्वज्ञ, सर्वदर्शी, अनन्तशक्तिमान्, पुरुषोत्तम ऋषभदेव भगवन् ! कहाँ तक आपकी स्तुति की जाय ? हे प्रभो ! कहाँ तक आपके गुण गाये जाएँ ?

हे तीन जगत के भूषण ! हे प्राणियों के नाथ ! जो मनुष्य आपकी सेवा करता है, आपकी आज्ञा का पालन करता है, आपके आश्रय में रहता है और आपके द्वारा प्रदर्शित पथ पर चलता है, उसे आप अपने ही समान बना लेते हैं, इसमें आश्चर्य ही क्या

है ? जो स्वामी अपने सेवक को, लगन के साथ सेवा करने पर भी ऊँचे दर्जे पर नहीं पहुँचाता, वह स्वार्थी स्वामी किस काम का ? उसकी क्या महत्ता है, क्या विशेषता है ! ऐसे स्वामी की सेवा करने से सेवक को क्या लाभ हुआ ? अच्छा स्वामी वही है जो सेवक को प्रामाणिकता के साथ सेवा करने पर अपनी श्रेणी में ले लेता है, अपनी बराबरी का बना लेता है।

भगवान् ऋषभदेव ऐसे ही आदर्श स्वामी हैं। वे अपने सेवकों को अपने समान ही बना लेते हैं अर्थात् परमात्मपद प्रदान करते हैं।

आदर्श श्रीमान् अपने सेवक को भी श्रीमान् बना लेता है। सेठ का मुनीम भी समय पाकर सेठ बन जाता है। किन्तु ऐसा होता तभी है जब किसी प्रकार का दुराव न रखकर, कपट न करते हुए, शुद्ध एवं निर्मल भाव से स्वामी की सेवा की जाय। जिनकी दृष्टि कर्त्तव्य की ओर नहीं वरन् पुरस्कार की ओर ही लगी रहती है, जो कार्य करने से पहले फल की कामना करते हैं और जिनके मन में कर्त्तव्य के बदले फल का ही महत्व है उनका कर्त्तव्य फल-कामना से मलीन हो जाता है। फिर मलीन कर्त्तव्य यथेष्ट फल प्रदान नहीं कर सकता।

यह एक ऐसा तथ्य है जो लौकिक और लोकोत्तर-दोनों कर्त्तव्यों में समान रूप से लागू होता है। फल की कामना अन्तःकरण में उत्पन्न होती है और अन्तःकरण अत्यन्त चपल और आग्रहशील होता है। वह आत्मा की पुचकार को सुनता नहीं और फटकार को मानता नहीं। बार-बार यत्न करने पर भी अपना स्वभाव छोड़ता नहीं और बलात् साधक को कुपथ की ओर घसीट ले जाता है।

अगर आप साधना की विविध विधियों का ध्यान से अध्ययन करेंगे तो पाएँगे कि साधना का प्रधान ध्येय चित्त का निरोध करना ही है। उन चित्तनिरोधक विधियों का अवलम्बन करने पर भी वह सरलता से ठिकाने नहीं रहता। परन्तु उसे स्थिर और नियंत्रित करने की अत्यन्त आवश्यकता है। अन्यथा वह फल की कामना करता रहेगा और साधना को दूषित करता रहेगा।

जैन धर्म को लीजिए, चाहे वैदिक धर्म को लीजिए, दोनों ही फल की कामना का विरोध करते हैं। गीता में निष्काम कर्म का उपदेश दिया गया है, यह सभी जानते हैं। जैनधर्म में स्पष्ट आदेश है—'निःशल्यो व्रती।' अर्थात सच्चा व्रती वही हो सकता है जिसने माया, मिथ्यात्व और निदान का परित्याग कर दिया हो। यहाँ निदानशल्य का अर्थ है फल की अभिलाषा। निदान करने से तपस्या कितनी मलीन हो जाती है, उसके लिए ब्रह्मदत्त चक्रवर्त्ती आदि के अनेक उदाहरण शास्त्रों मे पाये जाते हैं।

आशय यह है कि जो निष्काम भाव से, निर्मल मन से, निश्छल चित्त से भगवान् का भजन करता है, भगवान् की उपासना करता है, भगवान् के नाम का रटन करता है, भगवान् के वचनामृत का पान करके तदनुसार प्रवृत्ति करता है, वही भक्त जीव अपनी आत्मा को ऊँची उठा सकता है, वही भगवान् के तुल्य बन सकता है।

श्रीमद् आचारांगसूत्र के प्रथम श्रुतस्कंध के दूसरे अध्ययन के तृतीय उद्देशक में कहा है कि जो साधक अपनी आत्मा को ऊँची स्थिति पर ले जाना चाहता है, उसे यह विचार करना चाहिए:—

णत्थि कालस्सणागमो।

अर्थात्—मृत्यु का अनागमन नहीं है—मृत्यु अवश्यंभावी है। इसे रोका नहीं जा सकता।

यह विचार सदैव जिसके सामने रहेगा, उसकी प्रवृत्ति कुछ और ही प्रकार की हो जायगी। वह सोचेगा कि इस क्षणभंगुर जीवन को प्राप्त करके मैं आत्मा का कल्याण करूँ अथवा दुनिया की मोह-माया में फँसूँ? जो यह समझा बैठा है कि मैं अजर-अमर हो कर आया हूँ और मेरी मौत आने वाली नहीं है, वह सांसारिक सुखों की तृष्णा से अभिभूत हो कर, नाना प्रकार के पापों का आचरण करता हुआ मोह के अधीन हो कर दिन-रात विषय-वासना के साधन जुटाने में संलग्न रहता है। उसे वास्तविकता का पता नहीं चलता। अपनी खयाली दुनियां में वह घूमता रहता है। किन्तु जिसके मन में यह विचार चक्कर काटता रहता है कि यह जीवन स्थिर नहीं है, किसी भी क्षण समाप्त हो सकता है, मृत्यु का प्रहार होने की कोई घड़ी या समय नियत नहीं है और मृत्यु होने पर संसार का समग्र ऐश्वर्य यहाँ का यहीं रह जायगा, वह मनुष्य अनाचार करने से हिचकता है, पाप से डरता है और धर्म का आचरण करता है।

मृत्यु का आगमन अवश्यंभावी है, यह कोई कल्पना मात्र नहीं है। यह ऐसी वास्तविकता है जिसमें किसी को भी सन्देह करने की गुंजाइश नहीं। प्रतिदिन इस सत्य का हमें साक्षात्कार हो रहा है। हम देख रहे हैं कि प्रत्येक आने वाला जा रहा है या जाने की तैयारी में है अथवा अवश्य ही जाएगा। किसी कवि ने कहा है—

सोता सोता क्या करो, सोता आवे नींद।
मौत सिराने यों खड़ी, ज्यों तोरण आवे बींद ॥

दुनियां गफलत में सोई पड़ी है। उसे सत्य का भान नहीं हो रहा है। मगर इस प्रकार की आँख मिचौनी करने से क्या काम चलने वाला है ? इससे सचाई बदल नहीं सकती। कन्या की सगाई कलकत्ता, आगरा अथवा अन्यत्र कहीं भी करो, मगर वींद (वर) तो निश्चित तिथि पर तोरण पर आ ही धमकता है। उसी प्रकार मौत भी अपने निश्चित समय पर आ खड़ी होती है। वह ऐसी आती है कि उसे कोई टालना चाहे, भगाना चाहे, या एक दो मिनिट के लिए रोकना चाहे, तो वह नहीं मानती। उसके सामने कोई भी अभ्यर्थना-प्रार्थना काम नहीं आती। कोई उपाय कारगर नहीं होता। बड़े-बड़े सम्राटों का वैभव उसे रोक नहीं सकता। धन्वतरियों की औषधों का उस पर असर नहीं होता। विद्वानों की विद्या से वह विचलित नहीं होती। शूरवीरों की वीरता उसे डरा नहीं सकती। दीन-हीन जनों की करुण पुकार पर वह कान नहीं देती। किसी भी प्रलोभन से उसे रोका नहीं जा सकता।

मृत्यु किसी से नहीं डरती, बल्कि वही सब को डराती है। वह नहीं देखती कि सामने दो नाली बंदूक है, खंजर है, तलवार है, पिस्तौल है या राइफल है। कोई भी शस्त्र उसे भयभीत नहीं कर सकता। कोई दुर्गम दुर्ग में जाकर बैठ जाय और उसके चारों ओर कड़े से कड़ा पहरा लगा दिया जाय तो भी वह आ धमकेगी। वह मानने वाली, रुकने वाली नहीं। यथार्थ ही कहा है:—

राजा वकील बरिस्टर से कर मोहब्बत संग तू फिरसी रे।
कौन छुड़ावे काल आय जब, घेंटी पकड़सी रे।
ले संग खरची रे ॥ १ ॥

कदाचित कोई विचार करे-राजा के साथ मेरी मित्रता है। जब मौत आएगी तो राजा को इत्तिला कर दूंगा। राजा मेरी रक्षा के लिए हथियारबंद फौज भेज देगा। वह फौज मुझे मरने से बचा लेगी। कदाचित् कोई सोचे कि बड़े-बड़े वकीलों और बैरिस्टरों से मेरा परिचय है। मृत्यु के आने के समय मैं उन्हें बुला लूँगा। वे अपने कानूनी पाण्डित्य से और वचन कौशल से मुझे बचा लेंगे। कोई यह भी सोच सकता है कि मेरा कुटुम्ब-परिवार बड़ा है। कुटुम्बी जन मिलकर यम के दूतों को मार भगाएँगे। मगर अरे भोले जीव! ऐसा विचार करने से पहले यह क्यों नहीं सोचता कि जिनकी सहायता से तू मृत्यु से बचना चाहता है, वे स्वयं बचे हुए हैं या नहीं? पहले उनकी सुख साता तो पूछ ले! यह भी तो देख ले कि इस धराधाम पर कितने राजा, महाराजा, मांडलिक अर्ध-चक्रवर्त्ती, चक्रवर्त्ती आदि आये, पर उनमें से आज तक एक भी नहीं बच पाया! इसी प्रकार अपनी विद्वत्ता का गर्व करने वाले विद्वान्, अपने प्रचण्ड पराक्रम से रिपुओं को खण्ड-खण्ड कर देने वाले योद्धा और बड़े-बड़े कानूनदां आज कहाँ हैं?

जो आये थे गये सभी, जो आये हैं जाएँगे।

तो मौत के आगे किसी की नहीं चली और न चल सकती है। उसके सामने सब की दोस्ती निकम्मी सिद्ध होती है। जब मौत आकर गला पकड़ती है, तो छुड़ाने वाला कोई नहीं मिलता। तेरी माता, जिसने जन्म देकर और पाल-पोसकर तुझे बड़ा किया है और जिसका तेरे प्रति असीम प्रेम है; तुझे नहीं बचा सकेगी। तेरा प्यारा पुत्र, जिसके लिये तू पाप का आचरण करके धन एकत्र कर रहा है और अपने आत्मिक कल्याण को भूला हुआ है, तेरी रक्षा करने में असमर्थ साबित होगा। वह तेरी रक्षा करने की इच्छा करेंगे तो भी रक्षा न कर सकेंगे। सत्य है—

न वैद्या न पुत्रा न विप्रा न शक्रा—
न कान्ता न माता न भृत्या न भूपाः ।
यमालिंगितं रक्षितुं शक्नुवन्ति,
विचिन्त्येति कार्यं निजं कार्यमार्यैः ॥

अर्थात—जब यमराज किसी का आलिंगन करता है, तब संसार के नामी से नामी वैद्य औषध करके उसे नहीं बचा सकते। पुत्र, कलत्र, माता-पिता, नौकर-चाकर राजा आदि किसी अन्य में भी बचाने का सामर्थ्य नहीं है। ऐसा विचार करके आर्य जनों को चाहिए कि वे आत्म कल्याण का कार्य करें।

बहुत-से लोग विचार करते हैं—अभी जरा मजा-मौज कर लें, संसार का सुख भोग लें, अपनी सन्तान के लिए सुख-साधन जुटा दें, फिर निश्चिन्त होकर आत्मकल्याण की ओर ध्यान देंगे। इह लोक सुधारने के पश्चात ही परलोक को सुधारना शोभा देता है। परन्तु ऐसे लोग कितने भ्रम में हैं! वे जानते हैं कि मौत हमारे इशारे पर चलती है। जब तक हम चाहेंगे, जीवित रहेंगे और जब मौत को बुलाएँगे तभी वह आएगी। हमारी इच्छा के बिना मौत आ ही नहीं सकती! यह कितना भोलापन है! भविष्य के लिए संकल्प करने वालों को चेतावनी देते हुए आचार्य कहते हैं:-

यस्य वा मृत्युना सख्यं, यो वा स्यादजरामरः ।
तस्येदं युज्यते वक्तुमिदं श्वो मे भविष्यति ॥

जिसने मृत्यु के साथ मित्रता स्थापित करली है अथवा जिसको अजर-अमर होने का पट्टा मिल गया है, वही ऐसा कह सकता है कि-अमुक कार्य मैं कल कर लूँगा। आशय यह है कि

लम्बे भविष्य के संबंध मे मंसूबे बाँधने की बात तो दूर रही, अगले दिन का भी भरोसा नहीं है। कोई नहीं कह सकता कि वह कल का सूर्य देखेगा या न देख सकेगा! आगम मे भी यही कहा गया है—

जस्सत्थि मच्चुणा सक्खं, जस्स वऽत्थि पलायणं।
जो जाणे न मरिस्सामि, सो हु कंखे सुए सिया॥

—श्री उत्तराध्ययन

भृगु पुरोहित के दो पुत्रों की नस-नस में वीतराग की वाणी रम गई थी। वे संसार की असारता को भलीभांति समझ चुके थे। उन्हें विषय विष के समान, भोग भुजंग के समान और धन-सम्पदा धूल के समान प्रतीत होने लगी थी। अतएव वे संसार से विरक्त होकर अनगार होने का प्रबल संकल्प कर चुके थे। मगर पुरोहितजी अपने पाण्डित्य के बल से उन्हे गृह-जाल में ही फँसाये रखना चाहते थे। उन्होंने अनेक प्रकार से अपने पुत्रों को समझाया परन्तु उनके किसी भी प्रलोभन का उन पर कोई प्रभाव न पड़ा। वहाँ तो यही कहावत चरितार्थ हो रही थी कि—

सूरदास की कारी कमरिया, चढ़े न दूजो रंग।

तब भृगु पुरोहित ने कहा—'बालको! अभी तुम्हारी बाल्यावस्था है। यह खेलने-खाने का समय है। पढ़ो, लिखो और खुशी-खुशी जीवन व्यतीत करो। यौवन आने पर विवाह करके संसार के सुखों का आस्वादन करना-भुक्त भोगी होने के पश्चात् गृहत्याग करके आत्मकल्याण करना। तपस्या करना और ईश्वर का भजन करना।

अपने पिता की ममतापूर्ण इस शिक्षा के उत्तर में पुरोहित पुत्रों ने कहा—पिताजी ! आपकी शिक्षा के पीछे आपके हृदय की ममता बोल रही है। आप भविष्य में आत्मकल्याण करने के लिए कहते हैं। वृद्धावस्था में तपश्चरण और भगवत्-भजन का परामर्श देते हैं, परन्तु कौन जानता है कि वृद्धावस्था तक यह शरीर टिकेगा अथवा नहीं ? जिसकी मृत्यु से मित्रता हो, जो मौत आने पर भाग कर बच जाने की आशा करता हो अथवा जिसे यह विश्वास हो कि मैं कभी मरूँगा ही नहीं, वह कल की बात सोच सकता है। हमारी न मृत्यु के साथ मित्रता है, न हममें मौत से बच कर कहीं भाग जाने का सामर्थ्य है और न अपनी अजरता अमरता पर ही विश्वास है ! ऐसी स्थिति में भविष्य पर कैसे निर्भर रहें। यहाँ तो यह स्थिति है कि—

पाव पलक की खबर नहीं, करे काल की बात ।
ना जानूं क्या होत है, उगते ही परभात ॥

एक पल के चौथाई भाग जितने सूक्ष्म समय में क्या होने वाला है, इसका भी पता नहीं । फिर भी लोग कल यह करेंगे, वह करेंगे, ऐसी बातें बनाते हैं । प्रभात होते ही दुनिया क्या रंग बदल लेगी यह किसी को पता नहीं ।

आपको ज्ञात ही है कि कोई करांची में और कोई पंजाब में बैठे थे ! हिन्दू भी और मुसलमान भी आनन्द में बैठे थे। खुशियाँ मना रहे थे। उन्हें नहीं मालूम था कि दुनिया से कब टिकिट कटने वाला है ? एक पागलपन की लहर उठी और उस पागलपन ने लाखों का खात्मा कर दिया ! तो भाइयो ! कब क्या होने वाला है, किस बहाने से कब मृत्यु आएगी, यह कौन जानता है ?

जन्मे सो निश्चय मरे सरे, कौन अमर हो आया।
छत्रपति कई राजा राणा, बादल ज्यूं विरलाया॥

तूफान आया नहीं कि सघन मेघमण्डल न जाने कहाँ का कहाँ जा पहुँचता है। इसी प्रकार हमारे जीवन में कौन जाने क्य तूफान आ जाय और कब जिन्दगी की पूर्णाहुति हो जाय!

'सव्वे पाणा पियाउया, सुहसाया, दुक्खपडिकूला, अप्पियवहा, पियजीविणो, जीविउकामा, सव्वेसिं जीवियं पियं'।'

—श्रीमदाचारांगसूत्र

यह भगवान् के वचन हैं। यद्यपि मृत्यु अवश्यंभावी है, परन्तु वह इष्ट किसी को नहीं। अतएव जब मृत्यु होने वाली ही है तो दूसरों को क्यों तकलीफ देता है? संसार के सभी प्राणियों को जीना अच्छा लगता है। जीवन सभी को प्रिय है। सभी सुख-शान्ति पसंद करते हैं। दुःख किसी को प्रिय नहीं है। तुझे कोई लाठी मारता है या गोली मारता है तो क्या तुझे अच्छा लगता है? नहीं; तो जैसे प्राण तुझे प्रिय हैं, उसी प्रकार दूसरों को भी प्रिय हैं। सब की आत्मा समान है। तू सताया जाना पसंद नहीं करता तो दूसरे भी न सताया जाना ही पसंद करते हैं। अतएव किसी को न सताओ और किसी के प्राणों का अपहरण न करो।

कहा जा सकता है कि कई लोग जीवन से ऊब कर मौत की अभ्यर्थना करते हैं। कहते हैं—'हे राम! मुझे मौत दे। अगर उसे जीवन प्यारा है तो ऐसा क्यों बोलता है?

इसका उत्तर एक उदाहरण द्वारा देता हूँ:—एक मुसलमान था। वह कब्रिस्तान में जाकर सदैव कहा करता था—'या खुदा! मुझे मौत दे।'

एक दिन एक आदमी ने यह बात सुनी। उसने सोचा-यह खुदा से मौत माँगता है। इसकी परीक्षा करके देखना चाहिए कि वास्तव में ही यह मौत माँगता है अथवा ऊपरी मन से ही कहता है ?

दूसरे दिन वह रस्सी का एक फंदा लेकर कब्रिस्तान में इमली के पेड़ की खोंतर में छिपकर बैठ गया। मुसलमान नियत समय पर वहाँ आया। प्रतिदिन की तरह उसने वही मौत की कामना की। उसी समय खोंतर में छिपे मनुष्य ने रस्सी का वह फंदा फैंक कर कहा—'तेरी अर्जी मंजूर हो गई है। इस फंदे मे अपनी गर्दन डाल दे। बस, तू मेरे पास आ पहुँचेगा।

यह सुनना था कि वह मुसलमान वहाँ से भाग छूटा। रास्ते मे किसी ने पूछा-मियाँ किधर दौड़ रहे हो ?

मियांजी बोले—मत पूछो भाई, कजा आ गई।

भाइयो ! तो बात यह है कि कहना और है, करना और है। जो मौत बुलाता है, उसके सामने जब मौत वास्तव में आ जाती है तो रोने लगता है !

एक दृष्टान्त और लीजिए :—

होल्कर रियासत के रामपुरा के समीप कंजर्डा गाँव है। वहाँ जंगल, झाड़ियों और पहाड़ों की बहुतायत है। एक बार उस गाँव में चोर आये और नुकसान करके चले गए। पीछे से हाकिम साहब पहुँचे। वह अपनी शान बघारते हुए कहने लगे चोरो से हम क्या लड़ते, हमारे होश भी उड़-उड़ कर लड़ते। मगर क्या करें, समय पर खबर न लगी।

तब एक आदमी ने कहा—हुजूर ! चोर तो पास के जंगल में ही छिपे हैं। आप वहाँ चल कर मुकाबिला कीजिए।

हाकिम सिपाहियों को साथ लेकर जगल मे गया और बंदूक ऊँची करके बैठ गया। उस आदमी ने बतलाया-हुजूर ! देखिए,चोर वे आ रहे हैं। पर चोरों को देखते ही हाकिम साहब के होश उड़ गये। कहने लगे-ये चोर नहीं राहगीर हैं। इन्हें छेड़ना ठीक नहीं।

इस प्रकार टालमटूल करके हाकिम ने अपनी जान बचाई और सिपाहियों को साथ लेकर फिर गाँव में आ धमका।

भाइयो ! मौत का सामना करना बड़ा कठिन है। जीभ लप लपा देने में क्या बिगड़ता है ? मगर जब वास्तविक अवसर आता है तो विरले ही टिकते हैं।

मोर्चे पर डटे रहने वाले थे महामुनि शालिभद्र ! कितने सुकुमार थे वह ! राजा श्रेणिक ने जब उन्हे गोद में बिठलाया तो वे उसके शरीर की गर्मी भी बर्दाश्त न कर सके और पसीने से तर हो गए। उनका चेहरा कुम्हला गया। किन्तु वही सुकुमार जब गृहस्थ के अनुपम और दिव्य सुखों का परित्याग कर के भिक्षुक-जीवन में आये तो एक दम बदल ही गये ! धन्नाजी महाराज के साथ जाकर उन्होंने पादपोपगमन संथारा किया और निश्चल हो-कर पृथ्वीशिलापट्टक पर सो गए। जीवन भर के लिए अन्न पानी का त्याग कर दिया।

दृढ़ता के साथ मृत्यु से टक्कर लेने वाले दूसरे मुनि थे गजसुकुमार ! जैसा नाम था वैसी ही सुकुमारता थी। उगती जवानी में मुक्ति के महामार्ग पर चल पड़े थे। श्री कृष्ण जी के

लघुभ्राता थे। दीक्षा अंगीकार करते ही अकेले श्मशान में ध्यान करने चले गये। एक ब्राह्मण उधर से निकला। उसकी कन्या की गजसुकुमार के साथ सगाई हो गई थी, पर विवाह होने से पहले ही उन्हें वैराग्य का रंग लग गया और वे दीक्षित हो गये। इस घटना से ब्राह्मण कुपित हो उठा। उसने पास से गीली मिट्टी ली। मुनि के मस्तक पर सिगड़ी जैसी पाल बाँधी और उसमें धधकते हुए अंगार भर दिये। आह! कल्पना करते ही हमारे रोंगटे खड़े हो जाते हैं। मगर धन्य हैं वे मुनि गजसुकुमार, जिन्होंने उफ तक नहीं की और असीम शान्ति के साथ मृत्यु का आलिंगन किया। वे अमर हो गये और युग-युग के लिये एक महान् आदर्श उपस्थित कर गये।

भाइयो! जिनेन्द्र देव की परम्परा में ऐसे २ अनेक मृत्युञ्जय महापुरुष हुए हैं। इस समय अनेक नाम मेरे मस्तिष्क में चक्कर लगा रहे हैं। धर्मरुचि अनगार को याद दिलाऊँ या मेतार्य मुनि का स्मरण कराऊँ अथवा खंधक मुनि का वृत्तान्त बतलाऊँ? यह सब अथवा इसी प्रकार के दूसरे मुनियों ने डट कर मौत से मोर्चा लिया था।

आप सोचते होंगे कि अगर मृत्यु का निर्भीक भाव से आलिंगन करने वाले इतने अधिक मुनिराज हुए हैं तो क्यों ऐसा कहा जाता है कि कोई मृत्यु की कामना नहीं करता और मृत्यु किसी को प्रिय नहीं है?

इस शंका का समाधान यह है कि इन महात्माओं ने मृत्यु की कामना नहीं की मगर मृत्यु आने पर वे उससे भयभीत भी नहीं हुए। मृत्यु की कामना करना और किसी प्रकार के भारी दुःख से पीड़ित होकर मरजाने की इच्छा करना अलग बात है

और न चाहते हुए भी मृत्यु आ जाने पर विचलित न होना, उससे भयभीत न होना और मन को मलीन किये बिना उसका सामना करना दूसरी बात है। मुनिराज जीवन और मरण में समभाव धारण करते है। उन्हे जीवन और मरण में से एक प्रिय नहीं और दूसरा अप्रिय नहीं। जिन्हें शरीर के प्रति ममता नहीं रही है, जो चोले के बदलने को वस्त्र का बदलना समझते हैं और जिन्हें आत्मा की अमरता का भान है, वे जीवन-मरण मे समभाव धारण करते हैं।

किन्तु संसार में ऐसे विरक्त महापुरुष विरले ही होते हैं। उन अपवाद रूप मुनिराजों के सिवाय शेष सभी प्राणी जीवन को ही प्रिय समझते हैं। मृत्यु उन्हें प्रिय नहीं लगती। अतएव किसी के जीवन का विनाश करना महापाप माना गया है। जो वस्तु जितनी ही अधिक प्रिय है, उससे वंचित होने मे उतना ही अधिक दुःख होता हैं। यह बतलाने की आवश्यकता नहीं, आप अपने ही अन्तःकरण से पूछ सकते हैं कि आपको सर्वाधिक प्रिय क्या है ? प्राणों से अधिक प्रिय दूसरी कोई वस्तु नहीं। प्राणों की रक्षा करने के लिए आप सभी कुछ त्याग सकते है। यही कारण है कि प्राणों का नाश करना सब से बड़ा पाप माना गया है।

भाइयो ! इस प्रकार विचार करके इस क्षणभंगुर जीवन के लिए किसी को मत सताओ दूसरों को पीड़ा पहुँचाने पर भी यह जीवन सदा टिका नहीं रह सकता। यह तो चार दिनों की चांदनी है। अतएव निर्मल चित्त से, भगवान् ऋषभदेव को भजो और उनके आदेशों का पालन करो। ऐसा करने से ही तुम सुखी बन सकोगे और तुम्हारा भविष्य आनन्द मय बन सकेगा।

ब्यावर }
२२-६-४७ }

१
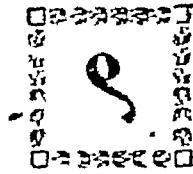
उपदेश-प्रभाव

स्तुति:—

> दृष्ट्वा भवन्तमनिमेषविलोकनीयम्,
> नान्यत्र तोषमुपयाति जनस्य चक्षुः ।
> पीत्वा पयः शशिकरद्युतिदुग्धसिन्धोः,
> क्षारं जलं जलनिधेरसितुं क इच्छेत् ? ॥

भगवान् ऋषभदेव की स्तुति करते हुए आचार्य महाराज फर्माते हैं—हे सर्वज्ञ, सर्वदर्शी, अनन्तशक्तिमान्, पुरुषोत्तम ऋषभदेव भगवन् ! कहाँ तक आपकी स्तुति की जाय ? हे प्रभो ! कहाँ तक आपके गुण गाये जाएँ ?

भगवन् ! आप 'अनिमेषविलोकनीय' हैं, अर्थात् अपलक दृष्टि से देखने योग्य हैं । आपके लोकोत्तर रूप में ऐसा प्रबल आकर्षण है कि उससे नजर हटना नहीं चाहती, यही नहीं, किन्तु देखने वाले को पलक मारने की भी इच्छा नहीं होती । जब पलक

झपता है तो देखने में विघ्न पड़ जाता है। भगवान् का रूप इतना मनोहर है कि दर्शक उस विघ्न को भी बर्दाश्त नही करना चाहता। वह यही चाहता है कि मेरे पलक न गिरें और मैं विना विघ्न पड़े, प्रभु का रूप देखता ही रहूँ। और फिर भगवान् के रूप-सौन्दर्य का पान करते-करते नेत्र थकते नहीं है।

भगवान् के अनुपम और अद्वितीय सौन्दर्य का चमत्कार यह है कि भगवान् को देख लेने पर आँखें नहीं चाहती कि किसी ओर को देखें। प्रभु का हृदयहारी रूप देख लेने पर उसके सामने दूसरे सभी रूप फीके पड़ जाते हैं, अतएव उन्हे देखना पसंद नहीं आता। पसंद आ भी कैसे सकता है? जिस व्यक्ति ने चन्द्रमा से भी अधिक श्वेत और चन्द्रद्युति से भी अधिक निर्मल एवं सुधा-सदृश क्षीर-सागर के जल का रसास्वादन कर लिया, उसे कभी भी लवणसमुद्र का जल रुचिकर नहीं हो सकता।

भगवान् के रूप में जो अतिशय होता है, उसका वर्णन करने के लिए उपयुक्त शब्द नहीं मिल सकते। उस असाधारण रूप की तुलना करने वाली कोई दूसरी वस्तु संसार में नहीं है, जिसकी उपमा देकर उस रूप को समझाया जा सके! कोटि-कोटि सूर्य और चन्द्रमा उस दीप्ति और सौम्यता पर निछावर किये जा सकते हैं।

भगवान् ऋषभदेव में इतना रूपातिशय कैसे आ गया? आखिर तो उनका शरीर भी पुद्गलों से ही बना है, फिर उसमें वह अनिर्वचनीय दिव्यता किस प्रकार आ गई? इस प्रश्न का उत्तर यह है कि प्रथम तो जगत् के सर्वोत्तम पुद्गल-परमाणुओं से प्रभु के शरीर का निर्माण हुआ था, अतएव उनमें सर्वोत्तम सौन्दर्य होना स्वाभाविक था। इसके अतिरिक्त भगवान् के

अन्तःकरण की शुचिता, निर्मलता, पावनता, सौम्यभाव एवं परमप्रकृष्ट सात्विकता का भी उनके सौन्दर्य पर प्रभाव पड़ा था। आपको ज्ञात होना चाहिए कि आन्तरिक वृत्तियों का भी चेहरे पर असर होता है। बुद्धिमान् मनुष्य किसी का चेहरा देख कर ही उसके मनोभावों को ताड़ लेता है। इसका कारण यह है कि मनोभाव अपनी छाया चेहरे पर अंकित कर जाते हैं। भगवान् में अपार शुचिता, पावनता और सात्विकता थी। उसके प्रभाव के कारण ही उनके रूप-सौन्दर्य में अलौकिकता एवं अनुपमता आई थी।

ऐसी दिव्य रूपश्री से सम्पन्न भगवान् ऋषभदेवजी हैं। उन्हे मेरा बार-बार नमस्कार हो।

भाइयो! दर्शन का अर्थ है देखना। देखना नेत्रों से होता है और अन्तरात्मा से भी होता है। नेत्रों से जो देखा जाता है, वह वस्तु का रूप कहलाता है और अन्तरात्मा से जो देखा जाता है, वह वस्तु का स्वरूप कहलाता है। इस प्रकार वस्तु स्वरूप को और फिर उसके प्रतिपादक शास्त्र को भी दर्शन कहते हैं। सिद्धांत के अर्थ में दर्शन शब्द प्रचलित ही है। जैसे भगवान् का बाह्य नेत्रगम्य दर्शन अद्भुत था, उसी प्रकार उनका सिद्धान्त भी अनुपम और असाधारण था। जिन्होंने भगवान् के रूपसौन्दर्य के सुधा का पान कर लिया, उन्हें दूसरा रूप रुचिकर न हो सका। और जिसने भगवान् के दर्शन-सिद्धान्त को जान लिया, उन्हें दूसरो के सिद्धान्त जानने की अभिलाषा न रही। उन्हें भगवान् के सिद्धान्त के विरुद्ध जो भी कथन है, वह मिथ्या कहानी ही जान पड़ी। जिसने गाय का मधुर दूध पी लिया, उसे क्या कभी आक का दूध रुचिकर हो सकता है? कदापि नहीं। जो वीतराग की वाणी को छोड़कर दूसरों की वाणी को पसंद करते हैं, समझ लेना

चाहिए कि उन्होंने वीतराग की वाणी समझी ही नहीं है। जो अमृत के गुणों को समझ लेगा और उनका अनुभव कर लेगा, वह विष-पान करना कदापि पसंद नहीं करेगा। इसी प्रकार वीतराग की वाणी का रसास्वाद करने के पश्चात् रागी-द्वेषी जनों की वाणी किसी को प्रिय नहीं लग सकती।

हे प्राणी! तू अनन्त काल से रागी जनों की वाणी सुनता चला आ रहा है, किन्तु वह असल वाणी नहीं थी। इसी कारण तेरा कल्याण नहीं हो सका। इस बार तुझे वीतराग की वाणी श्रवण करने का सुअवसर प्राप्त हुआ है, लेकिन तू न जाने अनादि काल से या चिरकाल से मिथ्यात्व के तीव्र ज्वर से ग्रसित हो रहा है। सम्भवतः इसी कारण तुझे वह रुचिकर न लगती हो, मगर भली भाँति समझ ले कि ऐसा करने से तेरा उद्धार न होगा। जब भी उद्धार होगा, वीतराग की वाणी से ही उद्धार होगा। वीतराग वाणी का शरण ग्रहण किये बिना तुझे चौरासी मे भटकना पड़ेगा। अतएव हे भव्य जीव! अगर तू अपना वास्तविक और स्थायी कल्याण चाहता है, सब प्रकार के दुःखों से अपना पिण्ड छुड़ाना चाहता है और लोकोत्तर सुख का भागी होना चाहता है तो तुझे समझना चाहिए कि सत्य क्या है? परमार्थ क्या है? यह भी जानना चाहिए कि किसी भी पुरुष के कथन में सत्यता या प्रामाणिकता किस प्रकार आती है?

सभी जानते हैं कि लोग क्रोध, मान, कपट या लोभ के अधीन होकर असत्य भाषण करते हैं। दूसरे शब्दों में कहा जा सकता है कि कषाय असत्य भाषण का कारण है। जिसकी आत्मा कषाय से कलुषित है, उसके वचन मिथ्या हो सकते हैं। उसके वचनों को प्रामाणिक नहीं माना जा सकता। इसके अतिरिक्त अज्ञान भी मिथ्या भाषण का कारण बन जाता है। कोई धोखा

नहीं देना चाहता, जान बूझकर असत्य नहीं कहना चाहता, फिर भी अज्ञान के कारण उसके वचन असत्य हो जाते हैं। अतएव जब तक किसी पुरुष को परिपूर्ण ज्ञान प्राप्त न हो गया हो, तब तक वह अपने वचन की प्रामाणिकता का दावा नहीं कर सकता। दावा करे भी तो वह चल नहीं सकता। प्रामाणिकता तो उसी की वाणी में हो सकती है, जो सर्वथा कषायों से रहित हो गया हो और पूर्ण ज्ञानी हो चुका हो। जिसमें यह दो गुण हों, आँख मींच कर उसकी वाणी पर विश्वास किया जा सकता है। इसी कारण जैनधर्म की यह मान्यता है कि वीतराग और सर्वज्ञ द्वारा उपदिष्ट आगम ही प्रमाणभूत है, अन्य नहीं। हाँ सर्वज्ञ की वाणी के अनुकूल जो भी वचन हैं, वे किसी के मुख से भी क्यों न निकले हों, प्रमाणभूत हैं; क्योंकि उनका आधार सर्वज्ञ की वाणी है। इसके अतिरिक्त अल्पज्ञों द्वारा या रागी-द्वेषी पुरुषों द्वारा स्वच्छंद भाव से बोले गये वचन या लिखे गये शास्त्र विश्वास के योग्य नहीं हैं।

श्रीमदाचारांगसूत्र में कहा है:—

'उवएसो पासगस्स नत्थि।'

जिन्होंने वस्तु के यथार्थ स्वरूप को जान लिया है, उनके लिए उपदेश की आवश्यकता ही नहीं है। पथप्रदर्शन की आवश्यकता उनके लिए है, जो पथ से अनभिज्ञ हैं। जो स्वयं पथ से परिचित हैं, उनके लिए पथप्रदर्शन या पथप्रदर्शक की आवश्यकता ही नहीं है।

भगवान् ने थोड़े से शब्दों में कितना अर्थ भर दिया है? जैसे गागर में सागर भर दिया हो! तीन शब्दों में समस्त शास्त्रों का सार समा गया है। जिसने तत्त्व का मर्म पहचान लिया,

वस्तु का यथार्थ स्वरूप जान लिया और जो तदनुसार यथार्थ प्रवृत्ति करने लगा, उसे उपदेश की क्या आवश्यकता है ?

जिसने जान लिया है कि झूठ बोलना बुरा है और जो सत्य मार्ग की तरफ प्रवृत्ति कर रहा है, उसे सत्य का उपदेश देने की जरूरत नहीं है। जो हिंसा को अकल्याणकर और आत्मघातक समझकर दया पालन में लगा हुआ है, उसे अहिंसा का उपदेश देना निरर्थक है। इसी प्रकार जो ब्रह्मचर्य का पालन कर रहा है, जो परिग्रह से मुँह मोड़े हुए है, क्रोध-कपट आदि पापों से निवृत्त है, उसको भी उपदेश सार्थक नहीं है। उपदेश सुनाने का जो प्रयोजन है, उसे वह पहले ही पूर्ण कर रहा है। उसने उपदेश का लाभ उठा लिया है। उसे शास्त्र वचन सुनाने की आवश्यकता नहीं है।

हाँ, कुछ ऐसे भी अपात्र होते हैं, जो जानते तो है कि आगरा का रास्ता यह है, मगर जाते है विपरीत ही दिशा में। जो यह जानता है कि चोरी करना, हिंसा करना, झूठ बोलना, पापों का सेवन करना बुरा है, इन पापों से यह लोक और परलोक दोनों बिगड़ जाते हैं, फिर भी वह चोरी करता है, हिंसा करता है, असत्य भाषण करता है, और धृष्ट होकर पापों के कुपथ पर ही चलने के लिए आग्रह शील है और उपदेश सुनना नहीं चाहता, वह भी उपदेश का पात्र नहीं है। कहा है—

चोरी को करन चोर चाल्या राते कोई ठौर,
आया है नगर पोर खात खणे सुर रे,
सेठानी कहत सुनो सेठ चोर आया पोर,
सेठजी कहे ते जाणु याही बात पूर रे।

धन माल लेय कर चोर चाल्या निज घर,
कहे हीरालाल सो तो गया घणी दूर रे,
जाणूं जाणूं कर रह्यो चोर माल लेइ गयो,
ऐसो जाणपणो पायो तामें पड़े धूर रे ॥

जो जान बूझ कर जहर खाता है और समझ बूझ कर ऊंधे रास्ते जाता है, उसे उपदेश देने से क्या लाभ होगा ? उत्तराध्ययन के तेरहवे अध्ययन में ब्रह्मदत्त चक्रवर्ती का जिक्र हैं। वह मुनि का उपदेश सुनकर कहता था—मैं आपकी वही बातें जानता तो हूँ, परन्तु उनके अनुसार चल नहीं सकता। तो भाइयो ! जो सोने का बहाना करता है और जागता हुआ भी खुर्राटे भरता है, उसे जगाने का प्रयत्न करने से क्या लाभ होगा ? जान-बूझ कर पाप करने वाले को क्या उपदेश दिया जा सकता है ?

जो भद्र हो, कोमल परिणाम वाला हो, जिज्ञासु हो, पापभीरु हो, हित का इच्छुक हो और चाहे कि कोई मुझे रास्ता दिखलावे, वह उपदेश का पात्र होता है। कहा भी है—

दान दरिद्र को दीजिए, हरे उसी की पीर।
औषध वाको दीजिए, जिसके रोग शरीर ॥

हाँ, दान उसी को देना चाहिए जो दरिद्र है, जिसका पेट खाली है, जिसके पास सर्दी से बचने के लिए चिथड़ा भी नहीं है, मुहताज है और जिसे अन्न-वस्त्र आदि की आवश्यकता है। जो रोगी है, उसे औषध देने की आवश्यकता है। जो रोगी नहीं है या रोगी होकर भी दवा का सेवन करना ही नहीं चाहता, उसे औषध देने से क्या लाभ ? वह तो वृथा गँवाना ही है। इसी प्रकार धन

से जिसकी तिजोरियाँ भरी हुई है और जो स्त्री सोने के आभूषणों से लदी हुई है, उसे भी दान देने से क्या लाभ है ? ज्ञान उसी को देना चाहिए जो अज्ञानी है, परन्तु जिज्ञासु है। कुटिल और अजिज्ञासु को ज्ञान देने का प्रयास निरर्थक है। अपात्र मूर्ख को उपदेश देना भैंस के गले में राम-नाम की माला पहनाना है। भैंस माला का क्या महत्त्व समझेगी ? वह तो उसे कहीं भी गंदी जगह में डाल देगी। उपदेश उसके लिए है, जिसके हृदय में कल्याण करने की कामना जागृत हुई हो और जो कल्याण का मार्ग जानने का इच्छुक हो।

एक जगह भीलों में विवाह हो रहा था। भीलनियाँ भेली (एकत्र-सम्मिलित) होकर गीत गा रही थी। उनके गीत भी वैसे ही होते हैं, जैसे राजा या सेठ-साहूकारों के यहाँ गाये जाते हैं। उनके आशय में कोई अन्तर नहीं होता। भीलनियाँ गा रही थीं—

अणी वाने केसर कस्तूरी को छेय न पार।

भीलों के पटेल ने जब यह गाना सुना तो वह सोचने लगा 'मैंने केसर तो देखी है, पर कस्तूरी नहीं देखी। उसे भी देखना चाहिए।

यह सोचकर भील ने सौ-पचास रुपये नोलो में बाँधे। हाथ में लोटा लिया। फिर शहर की ओर चल दिया। शहर में जाकर उसने किसी से पूछा—कस्तूरी कहाँ मिलती है ? पूछ कर वह कस्तूरी वाली दुकान पर पहुंचा। कहा—जरा कस्तूरी की वानगी दिखलाइए। दुकानदार ने कस्तूरी दिखला दी। कस्तूरी काली होती है। उसे देखकर वह कहने लगा-इससे बढ़िया दिखलाओ। दुकानदार दूसरी कस्तूरी लाया तो भील ने फिर ऐसा ही कहा। दुकानदार ने सबसे बढ़िया कस्तूरी दिखलाई। कहा—लो, यह सबसे

बढ़िया है। तब भील ने कहा—अच्छा, थोड़ी-सी बानगी दो। दुकानदार समझ तो गया कि यह भील कस्तूरी की वास्तविकता को नहीं समझता और निहाल करता भी नहीं दीखता, फिर भी उसे आशा लगी कि यदि सौदा पट गया तो अच्छा मुनाफा मिल सकता है। अतएव उसने छोटी-सी किरच उसकी हथेली में रखदी।

हथेली में कस्तूरी आते ही वह चट से उसे फाँक गया। उसका स्वाद कड़ुवा था। भील को वह रुचिकर न हुआ, अतः थू-थू करके उसने कस्तूरी थूंक दी और चलने लगा।

दुकानदार ने उसका फैटा पकड़ा। कहा—भाईजी, जाते कहाँ हो? बानगी की कीमत तो दिये जाओ।

भील हड़बड़ा कर कहने लगा—कहो, कितने पैसे दे दूं?

दुकानदार—सिर्फ पन्द्रह रुपये!

भील के पाँवों तले की जमीन खिसक गई। वह बोला—एँ पन्द्रह रुपया! ऐसा मालूम होता तो मैं चखता ही नहीं। वह तो कड़वी-कड़वी थी! मैं तो गुलगुले वाले से एक गुलगुला यों ही लेकर चख लेता हूँ।

मगर कस्तूरी गुलगुला नहीं थी। दुकानदार ने उससे पन्द्रह रुपये वसूल कर ही लिये!

भाइयो! यह तो एक दृष्टान्त है। इस दृष्टान्त के आधार पर तत्त्व की बात समझनी चाहिए। भील कस्तूरी लेने गया और दुकानदार ने उसे बढ़िया कस्तूरी दिखलाई। इसी प्रकार मैं आपको आचारांग में से बढ़िया कस्तूरी दे रहा हूँ। यह कस्तूरी उन्हीं को रुचिकर हो सकती है जो समझदार और विवेकवान् है। जो भील के सदृश अनजान हैं, उन्हे यह वाणी कटुक-सी प्रतीत होगी। आप

लोग रुचि से सुनते और समझते हैं, यह सन्तोष की बात है। मगर जिनके प्रबल कर्म का उदय है वे भील के समान थू-थू करने लगें तो इसमें आश्चर्य क्या है ? किसी ने ठीक ही कहा है—

न वेत्ति यो यस्य गुण प्रकर्षं, स तं सदा निन्दति नात्र चित्रम्।
यथा किराती करिकुम्भजातां, मुक्तां परित्यज्य बिभर्त्ति गुंजाम्॥

अर्थात् जो व्यक्ति जिस वस्तु के गुणों की उत्तमता को नहीं समझता है, वह सदैव उसकी निन्दा करता है। इसमें आश्चर्य की कोई बात नहीं। भीलनी मोती का मोल नहीं जानती। अतएव वह अनायास मिले मोती को फैंक देती है और उसके बदले में गुंजा (चिर भी) ले लेती है! कहाँ मोती और कहाँ गुंजा! परन्तु मूर्खता का प्रभाव ही ऐसा है कि भीलनी उसके जाल में फँसकर ऐसा हास्यास्पद कार्य कर डालती है और नहीं समझती कि उसने कोई भूल की है।

अनेक भव्य श्रोता तो ऐसे भी होते हैं जो एक-एक व्याख्यान सुन कर ही पट्टे—जीवदया की सनदें-लिख देते हैं। ऊँचे दर्जे की चीज जौहरी ही खरीदते हैं। इसी प्रकार भगवान् की वाणी की आराधना वही करेगा जो भव्य होगा-उत्तम प्राणी होगा और निकट भविष्य में जिसका कल्याण होने वाला होगा।

कभी-कभी एक ही उपदेश का भव्य जीव के चित्त पर क्या प्रभाव पड़ता है, यह जानने के लिए शास्त्रों में प्रचुर उदाहरण विद्यमान हैं।

राजा संयती कंपिलपुर का रहने वाला था। वह घोड़े पर सवार होकर, नौकरों-चाकरों को साथ लेकर, शिकार खेलने के लिए जंगल में गया। उसे हिरनों का एक झुंड दिखाई दिया।

उसमें हिरनों के अतिरिक्त हिरनियाँ थीं और छोटे-मोटे हिरन-शावक भी थे। राजा यद्यपि निरपराध और हिरण जैसे भद्र प्राणियों के प्राण लेने की निर्दयता कर रहा था, फिर भी उसके मन में थोड़ा विवेक अवशिष्ट था। उसने सोचा—तीर मारूँ तो नर हिरन को ही मारना चाहिए। मर्द होकर मादा पर तीर चलाने में कोई शोभा नहीं है। क्षत्रिय के लिए यह उचित नहीं।

भाइयो! क्षत्रियत्व का विचार करने वाला यह राजा नहीं जानता था कि वास्तविक क्षत्रिय कौन होता है? 'क्षत्रिय' शब्द का अर्थ क्या है?

'क्षतात् त्रायते–इति क्षत्रियः' अर्थात् जो वीर पुरुष क्षत से-आघात से दूसरों का त्राण-रक्षण करता है, वह क्षत्रिय कहलाता है। क्षत्रिय वह है जो सबलों से निर्बलों की रक्षा करता है। जो निष्कारण एवं निरपराध प्राणियों को सबल लोगों के अत्याचार का शिकार नहीं होने देता और इस प्रकार नीतिमर्यादा की रक्षा करता है, वही वास्तव में क्षत्रिय पद का अधिकारी है। संयती राजा इस यथार्थता से अनभिज्ञ था। रक्षा करने की बात तो दूर रही, वह स्वयं उन घास खाकर जीवित रहने वाले भोले-भाले अहिंस्र प्राणियों को अपनी अकरुण क्रीड़ा का शिकार बनाने को उद्यत हो रहा था। परन्तु उसमें विवेक का इतना अंश अवश्य विद्यमान था कि कोई हरिणी मेरे तीर का शिकार न हो जाय।

उधर हिरनों का झुन्ड निर्भय और निश्चिन्त भाव से किलोलें कर रहा था। मृग-छौने इधर से उधर फुदक रहे थे। उन्हे क्या पता था कि काल उनके मस्तक पर मँडरा रहा है! मौत का आक्रमण होने जा रहा है!

उसी समय राजा ने निशाना साधा और एक तीखा तीर चला दिया। निशाना ठीक लगा और एक हिरन घायल हो गया। घायल हिरन प्राणों के मोह में भागा। शायद, वह सोच रहा था कि भागने से उसके प्राण बच जाएँगे। प्राणी अपने प्राणों की रक्षा के लिए अन्तिम दम तक प्रयास करता है!

हिरन भागा, पर घाव ऐसा लगा था कि वह दूर तक न जा सका। समीप ही एक लब्धिधारी मुनि ध्यान में लीन विराजमान थे। हिरन भागते-भागते उन्हीं के सन्निकट पहुँचा। और गिर पड़ा। थोड़ी देर तड़फड़ाने के पश्चात उसके प्राणपखेरू उड़ गये।

राजा उसका पीछा करता हुआ वहीं जा पहुँचा। अपने शिकार को मरा देख उसे बड़ी प्रसन्नता हुई। अपनी निशानेबाजी का गर्व भी हुआ। घोड़े-से नीचे उतर कर शिकार को देखने के पश्चात् उसने जो इधर-उधर दृष्टि दौड़ाई तो अचानक ध्यानस्थ मुनि दिखाई दे गये। अपनी वीरता पर अभिमान करने वाला राजा, मुनिराज को देखते ही सहसा काँप उठा। उसकी वीरता तत्काल काफूर हो गई। वह सोचने लगा—

यो पाल्यो कर मृग मुनि को हुआ गजब भय मन में।
मुनिराज कोपेगा तो विनाश कर डाले छिन में॥

आह! यह मृग तो मुनिराज का पालतू जान पड़ता है। इसी कारण घायल होकर इसने मुनि के समीप आकर ही प्राण त्यागे! मुनिराज कुपित हो गए तो मुझ को ही नहीं मेरे सारे देश को भस्म कर डालेंगे! ओह! मैं कितना नादान हूँ। मैं ने सोच-विचार नहीं किया, आगा-पीछा नहीं सोचा और एकदम

बाण छोड़ बैठा ! बड़ी मूर्खता हो गई मुझसे ! शीघ्र ही इसका उपाय करना होगा।

भाइयो ! भौतिक बल का यह हाल है ! भौतिक बल वास्तव में अत्यन्त निर्बल होता है। उसमें अकड़ अधिक और दृढ़ता कम होती है। जैसे पुलिस का सिपाही ग्रामीणों के सामने ऐसा रौब जमाता है कि वही सब कुछ है, परन्तु अपने अधिकारी के सामने ऐसा दुबक जाता है जैसे बिल्ली के सामने चूहा ! इसी प्रकार भौतिक बल अकड़ता है, परन्तु आध्यात्मिक शक्ति के समक्ष काँपने लगता है।

भाइयो ! आपके पास क्या है ? 'भज कलदारं' की शक्ति ही तो है। मगर तपस्वी साधु को तपस्या की शक्ति प्राप्त होती है। वह भौतिक शक्ति की अपेक्षा बहुत उच्च कोटि की शक्ति होती है।

भय के कारण राजा के हाथ-पैर शिथिल हो गये। शरीर पसीने से तरबतर होने लगा। वह मुनिराज के निकट आकर कहने लगाः—

हाथ जोड़ कर अरज करत है, खड़ा मुनी के चरणों में,
मैं नहीं मृग आपको जाण्यो, अर्ज सुनो मुनि वारं वार।

महात्मन् ! मुझे ज्ञात नहीं था कि यह मृग आपका है। ऐसा जानता तो यह अपराध न करता।

यहाँ एक बात लक्ष्य में रखनी चाहिए। राजा जैन मुनियों के आचार-विचार से परिचित नहीं था। वह यह भी नहीं समझता था कि यह जैन मुनि हैं। अब तक वह ऐसे तापसों के ही सम्पर्क में आया था जो कुत्ता, तोता, मैना और मृग आदि पशुओं का पालन करते थे। जैन मुनि इस प्रकार की प्रवृत्ति से विलग रहते

हैं, क्योंकि वे आरंभ परिग्रह के सर्वथा त्यागी होते हैं। पशु-पक्षी पालन में आरंभ और परिग्रह अनिवार्य हैं। कदाचित् मरत समय पालतू पशु के प्रति ममता रह जाय तो उसी योनि में उत्पन्न होना पड़ता है।

बहुत करी करुणा राजा ने, हुआ गजब जब भय भारी।
फिर बोले मुनिराज मुनिजी, दयावंत पर उपगारी।
ऐ राजा ! मैं अभयदान दिया तुझे-तुम बात सुनो म्हारी।
दे जीवों को अभयदान तू दया पाल छत्तर धारी॥

मुनिराज का मन आत्मध्यान में लीन है। वे आत्मा और परमात्मा की एकता के चिन्तन में मग्न हैं। राजा प्रार्थना करता है लेकिन मुनिराज निश्चल भाव से जिनराज के चिन्तन करने में सलग्न रहे। उनके दोनों नेत्र बंद हैं। दृष्टि नासाग्र पर स्थित है। चेहरे पर अपूर्व प्रसन्नभाव विराजमान हैं। जान पड़ता है, समग्र सात्विकता सिमट कर मुनि के हृदय में आ बसी है।

किंचित् काल के पश्चात मुनि का ध्यान पूर्ण हुआ। उन्हें समझते विलम्ब न लगा कि राजा भयभीत है। जो दूसरों को भय उत्पन्न करता है, वह कभी निर्भय नहीं रह सकता। राजा अन्य प्राणियों का अनिष्ट करता था, अतएव उसे अपने अनिष्ट की संभावना रहती थी। मगर वीतराग एवं करुणा-सागर मुनि में वास्तव में उन्हें कोई भय न था। मुनिराज ने उसे देखकर कहा- 'राजन ! मैं तुम्हे अभयदान देता हूँ !'

कितने सुखद हैं यह शब्द ! इन्हें सुनकर कितना आनन्द होता है ! 'अभयदान' शब्द ही प्राणियों को शान्ति देने वाला है। अभय देने वाला स्वयं अभय बनता है—

यो भूतेष्वभयं दद्याद्, भूतेभ्यस्तस्य नो भयम् ।
यादृग् वितीर्यते दानं, तादृगासाद्यते फलम् ॥

अर्थात्—जो अपनी ओर से प्राणियों को अभयदान दे
है, उसे प्राणियों से भय नहीं रहता, क्यों कि जो जैसा देता है
वैसा ही पाता है ।

अभयदान सब प्रकार के दानों में उत्तम दान माना गय
है । प्राणों की रक्षा अभयदान है और प्राण सबको सबसे अधि
प्रिय होते हैं । जो वस्तु जितनी प्रिय है, उसका दान उतना ही
अधिक महत्त्व पूर्ण होता है । यही कारण है कि भगवान् ने स्व
अभयदान को सब दानों में उत्तम कहा है । आचार्य भी यह
कहते हैं—

न गोप्रदानं न महीप्रदानम्,
न चान्नदानं हि तथा प्रदानम् ।
यथा वदन्तीह बुधा प्रदानं,
सर्वप्रदानेष्वभयप्रदानम् ।

अर्थात्—ज्ञानी जन समस्त दानों में अभयदान को उत्तम
कहते हैं । अभयदान की तुलना में न गायों का दान ठहरता है, न
भूमि का दान ठहरता है और न अन्न का दान ही ठहर सकता है ।

गाय, भूमि और अन्न आदि सब वस्तुएँ प्राणों के पीछे हैं ।
प्राण रह जाएँ तो इन सब वस्तुओं का मूल्य है; प्राण न रहे तो
सब वृथा हैं । अतएव स्पष्ट है कि प्राणी के सामने प्राण ही प्रधान
वस्तु है और इसलिए प्राणरक्षा करना अथवा किसी को अभयदान
देना ही सब से बड़ा दान है ।

मुनिराज ने संयती राजा को अभयदान दिया। अभय पाकर वह निर्भय हो गया। जी में जी आया। तब मुनि ने अपने शान्त और गंभीर स्वर में कहा-राजन्! अभय पाकर तुम्हें कितनी प्रसन्नता हुई है? जब अभय नहीं मिला था तो कैसी व्याकुलता का अनुभव हो रहा था? यही बात सब प्राणियों के संबंध में समझो। जो तन में सो मन में। एक प्राणी के लिए जो सत्य है, सब के लिए वही सत्य है। अतएव जैसे तुम अभय चाहते हो, वैसे ही अन्य प्राणी भी अभय चाहते है। फिर क्या कारण है कि तुम्हारे द्वारा उन्हें अभय नहीं मिलता? तुम राजा हो, क्षत्रिय हो। सशक्तों के द्वारा अशक्तों को उपजाये जाने वाले भय का प्रतीकार करना तुम्हारा कर्त्तव्य है। इतना न कर सको तो कम से कम, यह तो कर ही सकते हो कि तुम स्वयं दूसरों को भय न उपजाओ। मगर तुम्हारी प्रवृत्ति एकदम विपरीत हो रही है। तुम जगल मे आते हो, यमदूत के प्रतिनिधि बनकर, काल का रूप धारण करके और मृत्यु की मूर्ति बन कर? गरीब प्राणी विह्वल हो उठते हैं। भयभीत हो जाते हैं। उनके प्राण सकट में पड जाते हैं। तुम्हे असहाय प्राणियों का पिता होना चाहिए, संरक्षक बनना चाहिए, सहायक होना चाहिए।

मुनि आगे कहने लगे-राजन्! संसार में मनोरंजन के बहुत साधन हैं। फिर शिकार खेल कर मनोरंजन के दानवीय उपाय को क्यों अपनाते हो? अपने मन को ठीक दिशा में मोड़ लो तो जीवों की रक्षा भी मनोरंजन का साधन बन सकती है। यह दैवी साधन होगा।

नरपति! विचार करो-यह जीवन क्या शाश्वत है? नहीं। इस जगत् में थोड़े समय जीना है। पापाचरण करके जीओ या धर्माचरण करके जीओ, पर जीवन का अन्त सुनिश्चित है। हाँ, पाप

का आचरण करने वाले अपना भविष्य दुःखमय अवश्य बना लेते हैं। इस अल्प कालीन वर्तमान के लिए चिर-भविष्य को संकटमय बना लेना विवेक के अनुकूल नहीं है। जरा विचार तो करो राजन्! आज तुम निरपराध प्राणियों को कष्ट देते हो और केवल अपने मनोरंजन के लिए उन्हे सताते हो, परन्तु जब इस देह को त्याग कर जाओगे, तब तुम्हारी क्या दशा होगी?

मुनिराज ने इस प्रकार राजा को संबोधन किया। शास्त्र में भी उसका उल्लेख आया है। वह इस प्रकार हैं:—

अभओ पत्थिवा तुब्भं, अभयदाया भवाहि य।
अणिच्चे जीवलोगम्मि, किं हिंसाए पसज्जसी?॥
जया सव्वं परिच्चज्ज, गंतव्वमवसस्स ते।
अणिच्चे जीवलोगम्मि, किं रज्जम्मि पसज्जसी?॥
जीवियं चेव रूवं च, विज्जुसंपायचंचलं।
जत्थ तं मुज्झसी रायं, पेच्चत्थ नाव बुज्झसे॥
दाराणि य सुया चेव, मित्ता य तह बंधवा।
जीवंतमणुजीवन्ति, मयं नाणुव्वयंति य॥
नीहरंति मयं पुत्ता, पियरं परमदुक्खिया।
पितरो वि तहा पुत्ते, बंधू रायं तवं चरे॥
तओ तेणज्जिए दव्वे, दारे य परिरक्खिए।
कीलंतिऽन्ने नरा रायं, हट्ठतुट्ठमलंकिया॥
तेणावि जं कयं कम्मं, सुहं वा जइ वा दुहं।
कम्मुणा तेण संजुत्तो, गच्छइ उ परं भवं॥

—श्री उत्तराध्ययन अ० १८

अर्थात्-राजन् ! तुझे अभय है, पर तू भी अभयदाता बन। इस अनित्य जीवलोक में किसलिए हिंसा में आसक्त होता है ?

जब तुझे संसार की समग्र सामग्री अवश्य ही त्याग कर जाना है; क्योंकि यह जीवन अनित्य है, तो फिर राज्य में भी क्यों मुग्ध हो रहा है ?

स्मरण रख, यह जीवन और यह रूप, विद्युत् की चमक के समान है। फिर भी तू इसी में मोहित हो रहा है और पार लौकिक प्रयोजन को समझता ही नहीं है !

कलत्र, पुत्र, मित्र और बन्धु बान्धव-सब जीवित के पीछे पीछे जाते हैं, मगर मरने वाले के पीछे मरते नहीं है। परलोक की यात्रा में कोई साथ नहीं जाते।

राजन् ! तुम सोचते होगे कि मेरे बलशाली राजकुमार हैं, समर्थ मित्र हैं, परिवार के जन हैं, ये सब मेरी सहायता करेंगे। परन्तु जरा विचार करो तो विदित हो जायगा कि यह सब कब तक के साथी हैं ? जब तक शरीर में श्वास है, तभी तक सब साथी हैं। जब शरीर से सांस निकल जाती है, तो शरीर लाश बन जाता है। सब हितैषी और साथी निराश और हताश होकर लाश के आस पास बैठ जाते हैं, रुदन करते हैं और विलाप करते हैं। पर जाने वाले के साथ कोई नहीं जाता। मरने वाले को नहला-धुला कर, वस्त्र पहना कर, अर्थी पर सुला देते हैं और आदमी लग कर उसे श्मशान में ले जाते हैं तत्पश्चात् चिता बना कर उस पर लाश रख देते हैं और आग लगा देते हैं। वह आग शरीर को भस्म बना देती है !

राजन् ! संसार का स्वरूप बड़ा ही लोमहर्षक है। यहाँ बाप को बेटा, बेटे को बाप और भाई उठा कर ले जाता है और

श्मशान में ले जाकर अग्नि को समर्पित कर देना है। यह हाल दूसरों का ही होगा, तुम्हारा न होगा, ऐसा सोचना भ्रमपूर्ण होगा। तुम्हारा भी एक दिन यही भविष्य है। यह प्रकृति का अनिवार्य विधान है। नृपति के विधान का उल्लघन हो सकता है और होता भी है, परन्तु प्रकृति के विधान का उल्लघन करने की शक्ति किसी मे नहीं, परमात्मा में भी नहीं।

राजन ! यह कठोर वास्तविकता है। यह अप्रिय सत्य है, जो सामने आये बिना रह नहीं सकता। ऐन समय पर कुछ नहीं हो सकेगा। अतएव यदि चेतना है तो चेतो, अभी से चेतो और तपस्या करो। ऐसा न किया तो खाली हाथ, बिना पूंजी, जाना पड़ेगा। दुनिया की दौलत दुनिया में ही रह जायगी और उसका दूसरे लोग उपभोग करेंगे। तुम्हारे साथ क्या जाने वाला है? तुमने जो शुभ अथवा अशुभ कर्म उपार्जन किये हैं, वही तुम्हारे साथ जाएँगे।

राजन ! यह तो तुम्हें विदित ही है कि मनुष्य कैसे दुष्कर्म और पाप करके धन संचित करता है। परन्तु अन्त मे उसके स्वामी दूसरे ही बन जाते हैं। बेटा, बेटी, पोता अथवा पोती उस पर अपना स्वामित्व स्थापित कर लेते है और 'राम नाम सत्य है' कह कर उसे आग में झोंक देते हैं। दूसरे लोग धन के ही स्वामी नहीं बन जाते, किन्तु कई बार प्राण-प्यारी स्त्री भी पराई बन जाती है।

राजन् ! बताओ, उस दिन कौन तुम्हारा सगा-साथी होगा। तुम्हारे प्रिय से प्रिय आत्मीय जन भी नया-नया संयोग पाकर तुम्हे भूल जाएँगे और अपने नवीन संयोगियों-संबंधियों के साथ आमोद-प्रमोद करने लगेंगे। धर्म-अधर्म और पुण्य-पाप के अतिरिक्त कोई भी साथी नहीं बनेगा। परलोक में जाने के पश्चात्

करनी के अनुसार ही सुख अथवा दुःख तुम्हें भोगना पड़ेगा। उस उस सुख-दुःख में भी कोई हिस्सेदार नहीं बनने वाला है। किसी को पता भी नहीं होगा कि तुम कहाँ और किस स्थिति में हो? संभव है, तुम भी न जान सको कि मैं कहाँ से आया हूँ, कैसा आचरण करके आया हूं और किस किस को त्याग कर आया हूँ। पिछले जन्म की समस्त आत्मीयता की वहाँ परिसमाप्ति हो जायगी। स्वजन, पर बन जाएँगे और परजन स्वजन बन जाएँगे!

भाइयो! जिसकी आत्मा में किंचित् भी जागृति है, थोड़ा सा भी विवेक है और आत्महित की ओर थोड़ी-सी भी जिसकी मनोवृत्ति है, उसके लिए महान् वैराग्य का यह उपदेश पर्याप्त है। मुनि का यह उपदेश सुनकर राजा को तुरंत वैराग्य हो गया।

राजा के साथ वन में जो कर्मचारी गये थे, वे सब उसके पास खड़े थे। राजा ने अपने मस्तक का मुकुट उतार दिया, वस्त्र और आभूषण भी उतार कर फैंक दिये। कर्मचारियों से कहा—जाओ, राजकुमार को राजगद्दी दे दो। कह देना—मैं अब आत्म कार्य साधूँगा। मेरा विभ्रम भंग हो गया है। अज्ञान और मोह का पर्दा मेरे नेत्रों के सामने से हट गया है। मुनिराज के अनुग्रह से आज मैंने जीवन का ध्येय समझ लिया है। तत्त्व की उपलब्धि हो गई है। मेरे सामने आज दिव्य आलोक उद्भासित हुआ है। यह मेरे मंगलमय जीवन का प्रभात है। आज से मेरा नूतन जीवन आरम्भ होगा। राजकुमार से कह देना-न्याय-नीति से प्रजा का पालन करे और अर्थ एवं काम में ऐसा न उलझ जाय कि धर्म को विस्मृत कर दे।'

राजा जंगल में ही वस्त्र, पात्र और ओघा आदि उपकरण मँगवा कर अनगार बन गया। वह निरपराध जीवों का शिकार

करने आया था, परन्तु अपने भीतर स्थित काम क्रोध आदि विकारों का शिकार करने को उद्यत हो गया। उसने अपने राज-महल का, राजधानी का, अन्तःपुर का और अपने विशाल लक्ष्मी भाण्डारों का ममत्व तज दिया। आँख उठाकर भी उनकी ओर न देखा। सब भूल गया, मानो कुछ था ही नहीं।

एक ही व्याख्यान का क्या प्रभाव हो सकता है, यह बात समझने के लिए यह एक उदाहरण है। उत्तम प्राणियों को एक बार ही अनुकूल निमित्त मिलने पर वैराग्य हो जाता है। उपादान उत्तम होना चाहिए। राजा की आत्मा उत्तम थी। इसी कारण वह सात श्लोकों में ही वैरागी हो गया और सन्मार्ग पर आ गया। दीक्षित होने के पश्चात उसने घोर तपश्चरण किया और जिस प्रयोजन की सिद्धि के लिए राज्य त्याग कर भिक्षु जीवन अंगीकार किया था, उस प्रयोजन को प्राप्त किया। केवलज्ञान और केवलदर्शन का लाभ कर निर्वाण प्राप्त कर लिया।

आप कह सकते हैं कि निर्दोष प्राणियों का निरर्थक वध करने वाला राजा संयती उसी भव में कैसे निर्वाण प्राप्त कर सका? इस प्रश्न का उत्तर यह है कि राजा ने मुनि बनने के पश्चात् अपने पूर्वाचरण का प्रायश्चित किया। उसके लिए पश्चाताप किया। कहा—'अरे जीव! मोहान्ध होकर तूने घोर अनर्थ किये हैं। मूक प्राणियों के गले पर छुरा चलाया है। असंख्य प्राणियों के बहुमूल्य जीवन को धूल मे मिलाया है। अब तेरा क्या हाल होगा? अरे पापी जीव! जब पाप कर्म उदय में आएँगे तो कौन तेरा रक्षक होगा? वास्तव में मैं बड़ा अधम हूँ। मैं ने पहले क्षण भर भी तो विचार नहीं किया कि मुझे क्या करना चाहिए और मैं क्या कर रहा हूं? कोई भी पाप मुझसे नहीं बचा! हे जिनदेव!

आपकी साक्षी से मैं उन सब पापों की निन्दा करता हूँ। उनके लिए पश्चात्ताप करता हूँ और दृढ़ संकल्प करता हूं कि भविष्य में पल भर के लिए भी मेरे दिल में पाप भावना का उदय न हो।'

इस प्रकार के पश्चात्ताप और प्रत्याख्यान की आग में उसके पाप भस्म हो गए। उसने अपनी आत्मा को हल्का बना लिया। जो कर्म शेष रहे, उन्हें तपस्या की भट्टी में झौंक दिया। ऐसा करने से राजा को उसी भव में निर्वाण प्राप्त हो गया।

धन्य है राजा संयती जो एक ही उपदेश से उद्बुद्ध हो गया। और धन्य हैं वे मुनिराज, जिनकी तपःपूत आत्मा के उद्गारों ने जादू सरीखा प्रभाव दिखलाया।

ऐसे ही पुरुष उपदेश के पात्र होते हैं। जो दुराग्रह से अभिभूत होकर उपदेश को उपहास का पात्र बनाता है, वह उपदेश का पात्र नहीं और जिसने बोध प्राप्त कर लिया है और जो तत्त्व दर्शी बन गया है, उसे उपदेश की आवश्यकता नहीं है।

भाइयो! वीतराग की वाणी सुनकर आप राजा संयती की तरह उद्बुद्ध होकर आत्म कल्याण करेंगे तो उभयलोक में सुखी होकर आनन्द ही आनन्द प्राप्त करेंगे।

ब्यावर
२३-९-४७

१०

जाग रे! जाग

स्तुतिः—
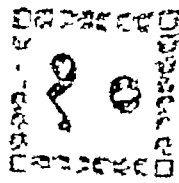
यैः शान्तरागरुचिभिः परमाणुभिस्त्वं,
निर्मापितस्त्रिभुवनैकललामभूत!
तावन्त एव खलु तेऽप्यणवः पृथिव्याम्,
यत्ते समानमपरं न हि रूपमस्ति ॥

भगवान् ऋषभदेव की स्तुति करते हुए आचार्य महाराज फर्माते हैं—हे सर्वज्ञ, सर्वदर्शी, अनन्तशक्तिमान्, पुरुषोत्तम ऋषभदेव भगवन्! कहाँ तक आपकी स्तुति की जाय? हे प्रभो! कहाँ तक आपके गुण गाये जाएँ?

किसी विद्वान् का कथन है—'यत्राकृतिस्तत्र गुणा वसन्ति।' आशय यह है कि जहाँ आकृति प्रशस्त है, वहाँ प्रशस्त गुणों का वास होता है।

यद्यपि एकान्त रूप से यह नियम सर्वत्र घटित नहीं होता तथापि प्रायः ऐसा देखा जाता है। मनोभाव मुखमण्डल पर

अपना अव्यक्त और कभी-कभी व्यक्त प्रभाव उत्पन्न करते हैं। जिसके मनोभाव जितने ही अधिक प्रशस्त, पावन और सात्त्विक होंगे, उतनी ही उसकी मुखमण्डल पर भी प्रशस्तता, पावनता और सात्त्विकता होगी। भगवान् की भावना का तो कहना ही क्या है? उस भावना सरीखी पवित्रता अन्यत्र कहाँ भी संभव नहीं है। अतएव यदि उनका मुखमण्डल भी असाधारण रूप से शोभा सम्पन्न होता है, तो यह स्वाभाविक ही है।

अभी भक्तामरस्तोत्र का जो पद्य बोला गया है, उसमें आचार्य महाराज भगवान् का गुणगान करते हुए उनके शरीर का वर्णन करते हैं। वह कहते हैं-प्रभो ! आप तीनों लोकों मे अद्वितीय रूप से सुन्दर हैं। आपके लोकोत्तर सौन्दर्य की समानता नहीं मिलती। इसका कारण यही जान पड़ता है कि जिन शान्त-शीतल परमाणुओं से आपके शरीर का निर्माण हुआ, वे परमाणु संसार में उतने ही थे। वह सर्वोत्कृष्ट शीतल परमाणु जितने थे, सब आपके शरीर के निर्माण में लग गये। उन सरीखे परमाणु और थे नहीं। इसी कारण आप जैसा रूप इस विशाल विश्व मे अन्यत्र कहीं दृष्टिगोचर नहीं होता। यही आपकी सर्वातिशायी सुन्दरता का कारण है।

भाइयो ! आचार्य महाराज ने भगवान् ऋषभदेवजी की असाधारण शरीर श्री का जो मनोहर वर्णन किया है, वह आलंकारिक वर्णन है। चामत्कारिक शैली से यहाँ दिखलाया गया है कि भगवान् का रूप-सौन्दर्य अनुपम था। ऐसे सुन्दर शरीरधारी भगवान् ऋषभदेव को हमारा बार-बार नमस्कार हो।

सज्जनो ! मानव-जाति का जन्मजात शरीर औदारिक कहलाता है। यह औदारिक वर्गणा से बनता है। पुद्गलों की

अनेक जातियाँ है, समूह है, जिन्हे वर्गणा कहते हैं। वर्गणा का अर्थ है परमाणुओं का समूह। इस शरीर को बनाने वाला नाम कर्म है।

शरीर पुद्गल-परमाणुओं से बनता है। अतएव शरीर का स्वरूप समझने के लिए परमाणु का स्वरूप समझना चाहिए। परम + अणु-परमाणु, अर्थात् सब से छोटा पुद्गल। अंगरेज़ी भाषा में इसे 'एटम' कहते हैं। मगर भौतिक विज्ञान के आधुनिक पण्डित जिसे एटम या परमाणु समझते हैं, वह जैनशास्त्रों में वर्णित परमाणु की अपेक्षा बहुत स्थूल है; अतएव उसे वास्तव में एटम को परमाणु कहना योग्य नहीं है। गतोन्द्रियज्ञानियों ने जिस सूक्ष्मतम परमाणु को अपने अलौकिक ज्ञान से देखा है, उसे यह वैज्ञानिक अभी तक नहीं जान सके हैं। यद्यपि इस दिशा में वैज्ञानिकों ने जो खोज की है, और जो अध्ययन किया है, वह अकथनीय है—यह आशा की जा सकती है कि भविष्य में वे धीरे-धीरे अग्रसर होते हुए जैन शास्त्र वर्णित अनेक वस्तुओं के स्वरूप को भी हृदयंगम करने में समर्थ हो सकेंगे।

परमाणु सब से बारीक पुद्गल है, जिसको दो टुकड़े नहीं हो सकते। वह किसी से रुकता नहीं, किसी को रोकता भी नहीं। एक समय म, नीचे लोक से निकल कर ऊर्ध्व लोक के अन्तिम भाग तक पहुँच सकता है। इस कथन से उसकी गति की तीव्रता का अनुमान लगाया जा सकता है। परमाणु की गति का वेग इतना तीव्र है कि उससे अधिक तीव्र गति कोई भौतिक पदार्थ नहीं कर सकता। उसकी इस तीव्र गति को द्विप्रदेशी, हजार प्रदेशों वाला, लाखों करोड़ों अथवा असंख्यात या अनन्त प्रदेशों वाला स्कंध भी नहीं रोक सकता।

परमाणु अग्नि की ज्वालाओं में से निकल सकता है, परन्तु अग्नि उसे जला नहीं सकती। पानी उसे गला नहीं सकता और पवन उसे उड़ा नहीं सकता। उसमें पाँच रंगों मे से एक रंग होता है, दो गंधों मे से एक गंध होती है, पाँच रसों में से एक रस होता है और आठ स्पर्शों में से दो स्पर्श होते हैं। अनुयोगद्वारसूत्र में परमाणु का सुन्दर और सरल शैली से निरूपण किया गया है। वह इस प्रकार है:—

'परमाणू दुविहे पण्णत्ते, तंजहा-सुहुमे अ, ववहारिए य' अर्थात परमाणु के दो भेद हैं-सूक्ष्म परमाणु और व्यावहारिक परमाणु। अनन्तानन्त सूक्ष्म परमाणुओं का समूह इकट्ठा होकर एक व्यावहारिक परमाणु कहलाता है। इस व्यावहारिक परमाणु के विषय में निम्नलिखित प्रश्नोत्तर किये गये हैं—

प्रश्न—से णं भंते ! असिधारं वा खुरधारं वा ओगाहेज्जा ?
उत्तर—हंता ओगाहेज्जा।
प्र०—से णं तत्थ छिज्जेज्ज वा भिज्जेज्ज वा ?
उ०—णो इणट्ठे समट्ठे। नो खलु तत्थ सत्थं कमइ।
प्र०—से णं भंते ! अगणिकायस्स मज्झंमज्झेणं वीइवएज्जा ?
उ०—हंता, वीइवएज्जा।
प्र०—से णं तत्थ डहेज्जा ?
उ०—णो इणट्ठे समट्ठे। नो खलु तत्थ सत्थं कमइ।
प्र०—से णं भंते ! पुक्खरसंवट्टगस्स महामेहस्स मज्झंमज्झेणं वीइवइज्जा ?

उ०—हंता, वीइवइज्जा।
प्र०—से णं तत्थ उदउल्ले सिया ?
उ०—णो इणट्ठे समट्ठे। नो खलु तत्थ सत्थं कमइ।

प्र०—से णं भंते ! गंगाए महाणईए पडिसोयं हव्वमागच्छेज्जा ?

उ०—हंता, हव्वमागच्छेज्जा।

प्र०—से णं तत्थ विणिघायमावज्जेज्जा ?

उ०—णो इणट्ठे समट्ठे। नो खलु तत्थ सत्थं कमई।

प्र०—से णं भंते ! उदगावत्तं वा उदगबिंदु वा ओगाहेज्जा ?

उ०—हंता, ओगाहेज्जा।

प्र०—से णं तत्थ कुच्छेज्जा वा ? परियावज्जेज्जा वा ?

उ०—णो इणट्ठे समट्ठे, तो खलु तत्थ सत्थं कमइ।

सत्थेण सुतिक्खेण वि, छित्तुं भेत्तुं च जं न किर सक्का।
त परमाणुं सिद्धा, वयंति आइं पमाणाणं॥

—अनुयोग द्वार

इस पाठ का अर्थ इस प्रकार है:—

प्रश्न—भगवन् ! परमाणु क्या तलवार की धार या छुरे की धार का अवगाहन कर सकता है ?

उत्तर—हाँ, अवगाहन कर सकता है।

प्र०—क्या वह उस धार से छिद्-भिद सकता है ?

उ०—नहीं, ऐसा नहीं हो सकता। परमाणु में शस्त्र का प्रवेश नहीं हो सकता।

प्र०—भगवन् ! क्या परमाणु अग्नि के बीचों बीच से निकल सकता है ?

उ०—हाँ, निकल सकता है।

प्र०—भगवन् ! क्या वह वहाँ जल सकता है ?

उ०—नहीं, ऐसा नहीं हो सकता। परमाणु में शस्त्र का प्रवेश नहीं हो सकता।

प्र०—भगवन् ! क्या परमाणु पुष्करावर्त्त नामक महामेघ के बीचों बीच से निकल सकता है ?

उ०—हाँ, निकल सकता है।

प्र०—क्या वह जल से आर्द्र होता है ?

उ०—नहीं, ऐसा नहीं हो सकता। परमाणु में शस्त्र का प्रवेश नहीं हो सकता।

प्र०—भगवन् ! क्या परमाणु गंगा महानदी के प्रतिस्रोत में आ सकता है ? अर्थात् गंगा पूर्व की ओर बहती है तो वह पश्चिम की ओर आ सकता है ?

उ०—हाँ, आ सकता है।

प्र०—क्या वह विनिघात-स्खलना-को प्राप्त होता है ?

उ०—नहीं, ऐसा नहीं हो सकता। परमाणु में शस्त्र का प्रवेश नहीं हो सकता।

प्र०—क्या परमाणु जल के आवर्त्त में या जल के बिन्दु में ठहर सकता है ?

उ०—हाँ, ठहर सकता है।

प्र०—क्या परमाणु वहाँ सड़-गल सकता है अथवा जल रूप में परिणत हो सकता है ?

उ०—नहीं, ऐसा नहीं हो सकता। परमाणु में शस्त्र का प्रवेश नहीं हो सकता।

तात्पर्य यह है कि जो सूक्ष्म पुद्गल अत्यन्त तीक्ष्ण शस्त्र के द्वारा भी छिद-भिद नहीं सकता, अर्थात् जिसे संसार का कोई

भी तीखे से तीखा शस्त्र छेद-भेद नहीं सकता, उसे सर्वज्ञ देव ने परमाणु कहा है। परमाणु से प्रमाणों की आदि होती है।

और भी कहा है:—

कारणमेव तदन्त्यं, सूक्ष्मो नित्यश्च भवति परमाणुः।
एकरसवर्णगन्धो, द्विस्पर्शः कार्यलिंगश्च ॥

अर्थात्–परमाणु कारण रूप ही होता है और सूक्ष्मता अंतिम है, उससे अधिक सूक्ष्म और कोई पुद्गल नहीं हो सकता। वह सूक्ष्म है, नित्य है, एक वर्ण, एक रस, एक गंध और दो स्पर्श वाला होता है। चर्मचक्षु जन परमाणु को देख नहीं सकते। वह किसी दूरवीक्षण यंत्र की सहायता से भी नहीं देखा जाता। बहुत से परमाणुओं के सम्मिलन से जब स्थूल अवयवी रूप कार्य उत्पन्न होता है, उसी से परमाणु का अनुमान किया जा सकता है। परमाणुओं के बिना स्थूल कार्य की उत्पत्ति संभव नहीं है और जब स्थूल कार्य दिखाई देता है तो परमाणु अवश्य होना चाहिए। इस प्रकार हम उसका अनुमान कर सकते हैं। आगम से भी उसे जान सकते है, परन्तु इन्द्रिय प्रत्यक्ष उसे जानने में असमर्थ है।

परमाणु अखण्ड द्रव्य है। वह अप्रदेशी है। परन्तु यह ध्यान में रखना चाहिए कि परमाणु केवल द्रव्य से ही प्रदेशहीन है। गुण और पर्याय उसमे भी स्कंध की तरह अनन्त होते हैं। परमाणु स्वयं द्रव्य है और उसमें रहने वाले रूप, रस, गंध, स्पर्श आदि-आदि गुण हैं। परमाणु में प्रधान रूप से दो प्रकार के पर्याय हैं–द्रव्य सबंधी और गुण सबंध।

द्रव्य, गुण और पर्याय संबंधी चर्चा बहुत लम्बी है और बहुत सूक्ष्म भी है। वह कथा-कहानी की भाँति साधारण जन–

समूह के लिए रुचिकर भी नहीं है, तथापि तत्त्व जिज्ञासुओं को वह आनन्ददायक है। उपयोगी भी है। इस चर्चा में गहराई से उतरे बिना तत्त्वज्ञान की प्राप्ति संभव नहीं है। अतएव इस चर्चा का विस्तार न करते हुए भी, संक्षेप में उसे कहना उचित ही होगा।

अनन्त गुणों के आधार भूत पदार्थ को द्रव्य कहते है। तत्त्वार्थसूत्र में कहा है–'गुणपर्यायवद् द्रव्यम्।' अर्थात् जिसमें गुण और पर्याय रहते हों, वह द्रव्य है। द्रव्य में रहने वाले उन अशों को, जो द्रव्य की भाँति शाश्वत हैं, गुण कहा जाता है। द्रव्य और गुणो की अवस्था विशेष को पर्याय कहते है।

द्रव्य सामान्य है, गुण पर्याय विशेष हैं। एक ही द्रव्य में अनन्त गुण और अनन्त पर्याय रहते हैं। इसका तात्पर्य यह नहीं कि जैसे मकान में मनुष्य रहते हैं, उसी प्रकार द्रव्य में गुण और पर्याय रहते हैं। मकान की सत्ता और मनुष्य की सत्ता पृथक्-पृथक् है। मकान के न रहने पर भी मनुष्य की सत्ता बनी रहती है और मनुष्य के अभाव में मकान का अस्तित्व नहीं मिट जाता। दोनों का अस्तित्व अलग–अलग है। मगर द्रव्य और गुण के संबंध में यह नहीं कहा जा सकता। यहाँ दोनों की इस प्रकार अलग सत्ता नहीं है। दोनों का तादात्म्य संबंध है। द्रव्य, गुणरूप है और गुण द्रव्यरूप है। एक के अभाव में दूसरे की सत्ता नहीं रह सकती। यों कहा जा सकता है कि ईंट, चूना, पत्थर, सीमेंट आदि से बना हुआ मकान उनके अभाव में विद्यमान नहीं रहता, अथवा जैसे हाथ, पैर, पेट, छाती, पीठ आदि आदि अवयव न हों तो शरीर का भी अस्तित्व नहीं है, उसी प्रकार द्रव्य के बिना गुण और गुणों के बिना द्रव्य भी नहीं है। अतएव द्रव्य और गुण मे तादात्म्य संबंध है। द्रव्य अंशी है, गुण अंश है।

इसी प्रकार गुण और पर्याय में भी अन्तर समझना चाहिए। गुण नित्य और पर्याय अनित्य है। गुण सहभावी और पर्याय क्रमभावी है। गुण सिर्फ द्रव्य मे रहता है और पर्याय गुण में भी रहता है और द्रव्य में भी रहता है-दोनों मे ही रहता है।

तीनों को समझने के लिए उदाहरण लीजिए। मनुष्य पर्याय है, उसमें रही हुई आत्मा द्रव्य है और ज्ञान दर्शन आदि शक्तियाँ उसके गुण हैं। मनुष्यता द्रव्य का पर्याय है और मति-ज्ञान, श्रुतज्ञान आदि ज्ञान तथा चक्षुदर्शन एवं अचक्षुदर्शन आदि गुण के पर्याय हैं। इसी प्रकार पुद्गल द्रव्य है। घट उसका पर्याय है। रूप, रस, गंध और स्पर्श गुण हैं। घट का काला या लाल रूप गुण की पर्याय है।

इस कथन से स्पष्ट हो जाता है कि गुण द्रव्य से भिन्न नहीं हो सकते और द्रव्य, गुण से भिन्न नहीं हो सकता। द्रव्य से गुण भिन्न हो जाय तो द्रव्य की नास्ति हो जाय और यदि गुणों से द्रव्य भिन्न माना जाय तो गुण की कोई सत्ता न रहे। अतएव दोनों में संयोग संबंध नहीं है, वरन् कथंचित तादात्म्य संबंध है।

शक्कर और मिठास दोनों अभिन्न हैं। यह कदापि संभव नहीं कि शक्कर अलग और मिठास अलग रह सके। इसी प्रकार घी और उसकी चिकनाई अलग नहीं की जा सकती।

छह द्रव्यों में केवल पुद्गल ही रूपी द्रव्य है, शेष सब अरूपी है। पुद्गल दो प्रकार के होते हैं—अणु और स्कंध। अणु का स्वरूप पहले बतलाया जा चुका है। अनेक अणुओं का समूह स्कंध कहलाता है। दो, तीन, चार, दस, संख्यात असंख्यात या अनन्त अणुओं के संयोग से स्कंध बनता है। एक बार बना हुआ स्कंध अधिक से अधिक असंख्यात समय तक ही ठहर सकता

है। इससे अधिक वह उसी रूप में नहीं रह सकता, क्योंकि पुद्गल की इससे अधिक समय की स्थिति ही नहीं है। असंख्यात काल के पश्चात् उसके पर्याय में अवश्य अन्तर पड़ जाता है।

छह द्रव्यों में से केवल पुद्गल ही हमें दृष्टिगोचर होता है। पुद्गल में से भी अणु दिखाई नहीं देता, सिर्फ स्कंध ही दीखता है। इस प्रकार पुद्गलपरमाणुओं से स्कंध बनता है और स्कंधों से शरीर की उत्पत्ति होती है। अतएव शरीर पौद्गलिक है। इस शरीर में रहने वाला आत्मा अरूपी है। उसमें पुद्गल के गुण रूप-रस गंध-स्पर्श आदि नहीं है।

कई लोग कहा करते हैं—'आज रात्रि में मैं ने भगवान् के दर्शन किये।' इस कथन का क्या अभिप्राय है? भगवान क्या डरते हैं कि जिससे तुझे रात्रि में दिखाई देते है, दिन में नहीं? तू अपनी आँखो से देखता है या नाक से देखता है? भगवान् काले थे या गोरे थे? बात यह है कि दुनिया जैसा अपने को समझती है, वैसा ही भगवान् का रूप कल्पित कर लेती है। मनुष्य भगवान् की मूर्ति बनाता है तो आँखें भी बना देता है; क्योंकि वह समझता है कि मेरी दो आँखें हैं तो भगवान् की भी दो आँखें होनी चाहिए। मगर उसे यह नहीं मालूम कि भगवान् परम-आत्मा हैं और उनमें अनन्त चक्षु हैं। उनके दो नेत्र क्यों बनाये जाएँ! भगवान् का कोई वर्ण नहीं है, कोई रूप-रंग नहीं है। यह तो पुद्गल का ही धर्म है और पुद्गल के अतिरिक्त अन्य द्रव्य में नहीं पाया जा सकता।

अभिप्राय यह है कि जो कुछ भी हमें दिखाई देता है, वह सब पुद्गल है। पुद्गल इकट्ठे होते हैं और बिखर जाते हैं। पुद्-गलों से ही शरीर बनता है। इस शरीर में भी उच्च कोटि के,

निर्मल और स्वच्छ पुद्गल आँखों मे लगे हैं। आँखों की बराबरी करने वाला कोई भी अवयव शरीर में नहीं है। आँखों के पुद्गल कितने सुन्दर हैं। कैसी चम-चम करती हैं दोनों आँखे! इनको सुरक्षा का भी कितना उत्तम प्रबंध है। ऊपर दोनों ओर पलकें हैं, जो इनकी रक्षा करने को सदैव उद्यत रहती हैं। तनिक-सा भी खतरा हुआ नहीं कि झट से पलकें उनकी रक्षा के लिए लपक उठती हैं। सब लोग हीरे को डिबिया में बंद करके रखते हैं, कांच को नहीं। यह आँखें हीरे के समान हैं। समग्र शरीर के पुद्गलों की अपेक्षा उच्च कोटि के पुद्गल इनमें लगे हैं। आँख शरीर का परम सौन्दर्य है और आँख के बिना अनन्त अधकार ही अंधकार है। मानो समस्त जगत् सूना है।

लोक मे कहावत प्रसिद्ध है—'लाख रुपये का आदमी है।' अगर इस शरीर की कीमत लाख रुपया आंकी जाय तो उस लाख में से ९९००० की यह आँखें हैं। शेष रहे एक हजार में से नौ सौ की नाक है, क्योंकि नाक की ही सब करामात है। शेष एक सौ का सिर से लेकर पैर तक का सारा खोखा है। इस प्रकार आँख सब से महँगी है, अतएव वह ऊँचे दर्जे की चीज है। कोई दूसरा अवयव आँख की बराबरी नहीं कर सकता।

पुद्गलों से ही सब शरीर बनते हैं, परन्तु सुन्दर से सुन्दर और उत्कृष्ट से उत्कृष्ट पुद्गलों से तीर्थंकर भगवान् का शरीर बनता है। उनसे हीन कोटि का सुन्दर शरीर देवताओं का, चक्रवर्ती का, वासुदेव का, बलदेव का और युगलियों का होता है। इनसे भी हीन कोटि के परमाणुओं से हम लोगों का शरीर बना है। इसमें भी शुभ नाम कर्म का उदय हो तो अच्छा और अशुभ नाम कर्म का उदय हो तो बुरा शरीर बनता है।

इस प्रकार मनुष्य-शरीर पुद्गलों से बना है और पुद्गलों का संयोग विनाशशील है। अतएव इस शरीर का कभी भी विनाश हो सकता है। हे जीव ! इस सत्य की ओर ध्यान दे, समझ, जाग, सावधान हो जा !

श्री आचारांग सूत्र में भगवान् ने फर्माया है:—

सुत्ता अमुणी, मुणिणो सया जागरंति।

अर्थात्—अमुनि-अज्ञानी जन सदा सोते रहते है और ज्ञानी जन सदैव जागृत रहते हैं।

हिन्दी कविता में भी कहा है:—

सोता सदा रहे अज्ञानी, सदा जागता रहता ज्ञानी।
जागे जिसका धन बच जावे, सोवे जिसका सर्वस्व जावे॥

ज्ञानी सदा जागते रहते हैं और अज्ञानी सदैव निद्रा लेते रहते हैं। जो मनुष्य द्रव्योपार्जन में संलग्न रहते हैं, हजारों-लाखों का ऊँचा-नीचा करते रहते हैं, लड़ाई-झगड़े में व्यस्त रहते हैं, क्रोध करते हैं, अभिमान करते हैं, मुकदमे बाज़ी करते हैं और इधर-उधर भटकते फिरते हैं, समझ लो कि वह अभी सोये हुए हैं। वे मोह-माया की नींद में मस्त पड़े हुए है। वह चालीस वर्ष का हो गया हो तो भी समझना चाहिए कि वह अभी नादान बच्चा है ! सौ वर्ष का हो जाय तो भी सोता हुआ बच्चा ही है।

इसके विपरीत, जो मुनि हैं, ज्ञानी हैं, वे सदैव जागते रहते हैं। जो जागता रहता है उसका धन बच जाता है; उसके घर मे चोर नहीं प्रवेश कर सकते। मगर सोने वालों का सर्वस्व लुट जाता है। नरक में उसी को जाना पड़ता है जो सदा सोया रहता है। यह

नींद कौन-सी है ? मोह-माया की नींद है। दुनिया अज्ञानावस्था में कर्मोपार्जन कर रही है और जब जो ज्ञानावस्था में आ जाता है, तब वह कर्मों से विरत हो जाता है। जो जागृत नहीं है, सावधान नहीं है, बेभान हो रहा है, कर्मरूपी चोर उसके सर्वस्व का, ज्ञान आदि गुण-सम्पत्ति का, अपहरण कर लेते हैं। ज्ञानी जन उन्हें सावचेत करते हुए कहते हैं--चेतनजी, तुम्हें अनन्त काल हो गया है सोते-सोते ! अब तो जागो और सही राह पर आओ !

कवि ने भी ठीक ही कहा है—

जागो जागो ऐ प्यारे मित्रो ! होने वाली भोर।
आलस्य मोह-नींद में सोया हृदय कठोर ॥
नर का चोला ध्यान धरो इस ओर—
जागो जागो ऐ प्यारे मित्रो ! होने वाली भोर।

ऐ दोस्तो ! प्यारे मित्रो ! जागो, दिन उगने वाला है। अगर सोते रहे तो दूसरे स्टेशन पहुँच जाओगे, यानी पहुँचना है ब्यावर तो सोते-सोते पहुंच जाओगे सैंदड़ा ! इसी प्रकार अगर सावधान न हुए और मोह-निद्रा में सोते रहे तो अपने अभीष्ट लक्ष्य पर न पहुंच सकोगे-स्वर्ग और मोक्ष नहीं पा सकोगे, किसी और ही लाइन पर पहुंच जाओगे।

कहावत है—'जागे जिसकी भैंस और सोवे जिसका पाड़ा'। एक उदाहरण लीजिए, जिससे बात स्पष्ट हो जाय:—

एक किसान था। उसके घर में भैंस बँधी थी। घर के सब लोग बेफिक्र होकर सो रहे थे। वहाँ एक चोर आया। वह कहीं चोरी करके पाड़ा लाया था। उसने सोचा-ले तो आया पाड़ा,

मगर यह क्या काम आएगा ? इस भैंस से इसे क्यों न बदल लिया जाय ? बस, चोर ने भैंस की जगह पाड़ा बाँध दिया और भैंस लेकर चम्पत हो गया।

भोर के समय किसान भैंस दुहने के लिए उठा। उसने ज्यों ही भैंस दुहना चाहा, पता चला कि यह भैंस नहीं पाड़ा है। उसने हल्ला मचाना शुरू किया। घर के लोग उठ बैठे। सब ने निश्चय किया-भैंस चार चुरा ले गये और पाड़ा उसकी जगह बाँध गये हैं। भैंस के चार थन होते हैं, पर इसके तो एक भी नहीं है !

भाइयो ! जैसे उस किसान को सोते रहने से यम का वाहन पाड़ा मिला, उसी प्रकार आप भी सोते रहे तो आपको मिलेंगे यमदूत ! वे आपकी चोटी पकड़ कर अच्छी तरह खबर लेंगे। इसलिए याद रखना चाहिए—यह जो मनुष्य का चोला मिला है, वह नींद में, मस्ती में, राग-रंग में नहीं चला जाना चाहिए।

काम क्रोध मद लोभ जबर ये शक्ति शाली चोर।
सावधान होकर रहना, चले न इनका जोर ॥
जागो जागो ऐ प्यारे मित्रो—

देख भाई,आत्मिक सम्पत्ति-रूपी धन को लूटने वाले काम, क्रोध, मद और लोभ-यह चार चोर बड़े जबर्दस्त है, शक्तिशाली हैं। ऐ प्राणी इन चोरों से तू सदा सावधान होकर रहना। कहीं ऐसा न हो कि तुझ पर इनका जोर चल जाय।

किसी समय एक मियांजी घोड़े पर सवार होकर चले। रात्रि में वे एक गाँव मे ठहरे। पिछली रात वह उठे और पड़ौसी से कहा-यह कटोरा दूध से भरवा लाओ। पड़ौसी ने कटोरा ले

लिया और दूध एक मिट्टी के कद्दे में भर कर ले आया। यह देख मियाँजी ने पूछा—कटोरा कहाँ गया? पड़ौसी बोला-दूध पीना है तो इसी से पी लो! मियांजी, कटोरा बन गया कद्दा और चीं-चपड़ किया तो घोड़ा बन जाएगा गदहा!

मियांजी जब चलने को तैयार हुए और घोड़े के पास पहुँचे तो देखते हैं कि घोड़ा तो सचमुच ही गधा बन गया है! हैरत में आकर उन्होंने पूछा-भाई, यह क्या हुआ? तब उन्हे उत्तर मिला अजी, यहाँ यों ही हो जाया करता है।

याद रखना सज्जनो! यह तो एक उदाहरण है। ठगों की बस्ती में होशियारी न रक्खी तो हीरा लुट जायगा, अनमोल हीरा हाथ से चला जायगा। यह मानवभव व्यर्थ हो जायगा और फिर न जाने कीड़ा बनेगा या मकोड़ा! यह संसार परिवर्त्तनशील है, अतः चोरों से बचकर चलो, अन्यथा तुम्हारी ज्ञान रूपी पूंजी और समझ रूपी सम्पत्ति विकार-चोर चुरा लेंगे। अरे प्राणी! तू क्या कर रहा है? तुझे कुछ भान भी है?

मेरा मेरा कर रहा प्राणी,
मचा रहा गुल-शोर,
कोई न आवे करना इस पर गौर; जागो० ॥

अरे जीव, तू मेरा- मेरा कर रहा है। नींद मे बड़बड़ा रहा है। शोरगुल मचा रहा है। पर यह सब मोह निद्रा का ही प्रभाव है। मोह की नींद में मनुष्य कहता है-यह मकान मेरा है, यह हवेली मेरी है, यह बाग-बगीचा मेरा है, यह विशाल भंडार मेरे हैं। परन्तु याद रखना, जिनके विषय मे तू मेरा-मेरा कह रहा है, उनमें से कोई भी साथ जाने वाला नहीं है। अगर वास्तव में

ही यह वस्तुएँ तेरी हैं तो परलोक में साथ क्यों नहीं जाती ? बताओ तुम्हारे साथ तुम्हारा बाप, तुम्हारा बेटा, तुम्हारी पत्नी, तुम्हारा परिवार, तुम्हारा धन और यहाँ तक कि शरीर भी क्यों नहीं जाता है ? जब तू अपने पिता के साथ नहीं गया तो कैसे आशा रखता है कि तेरे पुत्र तेरा साथ देंगे ? सच तो यह है-

वाजिराज गजराज मही औ महल कोष धन दारा
यदि चेतन से हो अभिन्न तो कभी न होवे न्यारा
है जो जिसकी असल सम्पदा, वह क्या न्यारी होती ?
क्या सूरज की ज्योति कभी भी अलग सूर्य से होती ?

यह हाथी, घोड़े, महल, हवेली यदि आत्मा से अभिन्न होते तो अन्त में अलग कैसे हो जाते ? जो जिसका है, वह उससे कभी अलग नहीं होता । सूर्य की ज्योति सूर्य की है तो हजार उपाय करके भी उसे सूर्य से अलहदा नहीं किया जा सकता । यह स्वकीय और परकीय पदार्थों के निर्णय की कसौटी है । इस कसौटी पर संसार के समस्त पदार्थों को कस लो तो पता चल जायगा कि यहाँ तुम्हारा कुछ भी नहीं है, सब पराया है । ऐसी स्थिति में उन पदार्थों को 'मेरा-मेरा' कहना मोह मात्र है ।

एक कृपण था । उसके पास बहुत धन था, परन्तु वह कभी किसी का भला नहीं करता था । जब कोई उसे दान देने की प्रेरणा करता तो वह उत्तर देता-पूंजी क्या मुफ्त ही आती है ! बड़ा-कड़ा परिश्रम करके पैसा कमाया है ।

लोग कहते-परिश्रम से कमाया है, सो तो ठीक, पर क्या इसे साथ ले जाओगे ? तब कृपण कहता-हाँ, सब धन दौलत मैं साथ ले जाऊँगा । अपने बेटे के लिए भी नहीं छोड़ूँगा ।

उसके एक मित्र ने कहा—जब तुम जाओ तो मेरी एक सुई भी लेते जाना। मुझे वहाँ आवश्यकता होगी तो मै तुमसे माँग लूँगा। कृपण ने कहा-ठीक है, लाओ सुई। और उसने सुई ले ली। उसने सोचा-गाड़ी भर माल मे सुई का क्या बोझ!

समय आया और वह मूँजी बीमार पड़ा। बीमार भी सख्त हुआ। तब उसने लड़के से कहा-थैलियां और तिजोरियाँ सब मेरे पास लाकर रख दो। लड़के ने कहा- पिताजी, क्या करोगे उनका?

मूँजी—सब साथ ले जाऊँगा।

लड़का—कुछ मेरे लिए भी?

मूँजी—नहीं, कुछ नहीं। जैसे मैंने परिश्रम किया, उसी प्रकार तुम भी करना और कमाना।

'अच्छा, पिताजी' कहकर लड़के ने पिता की समस्त संपत्ति उसके कमरे में, आसपास जमा कर दी। मूँजी के मरने का समय सन्निकट आया तो कभी तिजोरी को हाथ लगाने लगा और कभी थैलियाँ टटोलने लगा।

उसी समय उसका वह मित्र आया। मूँजी की दशा देखकर उसने कहा—देखो, मेरी सुई मत भूल जाना।

थोड़ी ही देर मे उसका शरीर शिथिल पड़ गया। जी घबराने लगा। हाथ पैर काबू से बाहर होने लगे। तिजोरियों की तरफ हाथ बढ़ाया तो वह बढ़ने से इन्कार करने लगा। तब उसने अपने मित्र से कहा-बन्धु, यह क्या हो रहा है? मेरा तो हाथ भी नहीं उठ रहा। मक्खियाँ भी नहीं उड़ाई जाती। बाप रे बाप! मैं अपने धन को भी हाथ नहीं लगा सकता तो तुम्हारी सुई कैसे ले जाऊँगा?

ढेर दौलत का पड़ा है, ऐसा वह कहने लगा ।
तू भी मुझको छोड़ता है, खाली हाथों में चला ॥

भाइयो ! मूंजी के आसपास उसकी सम्पत्ति बिखरी पड़ी है। हीरा, मोती, माणिक आदि का ढेर लगा हैं। उसे देख कर कृपण कहता है-हे लक्ष्मी ! मै जानता था कि तू मेरा साथ देगी-मेरे साथ चलेगी। मगर तू मेरा उपहास कर रही है। मुझसे अलग हो रही है। यह क्या ? क्या मेरे हाथ-पैर भी मेरे साथ नहीं जाएँगे ? हाय, यह शरीर भी अब मेरा हुक्म नहीं मान रहा है !

सज्जनो ! इस कृपण की तरह आप भी यही समझते हों तो मौके पर आजमाइश कर लेना।

आपने चोर-बाजारी करके बहुत धन कमाया है। आप उसे साथ में ले जाएँगे न ?

भीतर से जब बाहर लिया,
छूट गई सब महल अटारियाँ ।

चलते समय सिर्फ एक चादर ओढ़ा दी जाएगी। हे चेतन जी, जिस झरोखे में बैठकर आप आँखों पर चश्मा चढ़ाकर अभिमान के साथ, सड़क और बाजार देखा करते थे, उसी झरोखे से आप नीचे उतार दिये जाएँगे। क्या इसमें किसी को शंका है ? भाई, सब छूट जायगा, जीतेजी ही छूट जायगा।

चेतनजी ! सोते-सोते बहुत समय व्यतीत हो चुका। अनादि काल से सो रहे हो। अब कब तक सोते रहोगे ?

दो हजार के एक साल में, आया शहर इन्दौर ।
चौथमल चेताबे जग को, प्रभु नाम सिरमौर ॥

भाइयो ! मै चेतावनी देता हूँ। तुम्हे जागृत करना चाहता हूँ। जागो, जागो, मोहनिद्रा को भंग करो और अन्दर के नेत्र खोल कर देखो-इस संसार में अगर कुछ सार भूत है तो वह परमात्मा का नाम ही है। उसके सिवाय और सब असार है। उसका सहारा त्यागो और प्रभु नाम का शरण गहो।

हे आत्मन् ! यह अवसर बहुत काम का है। कहो क्या विचार है ? यह नींद में सोने का अवसर नहीं, जागने का है। प्रभात में जागकर अपना कर्त्तव्य करो। प्रभात निकल गया है और मध्यान्ह आ गया है, अर्थात् बाल्यावस्था बीतकर यौवन में आ गये हो, तो भी जागो। अब भी समय है। इस समय भी न जागे और चारों ओर सघन अंधकार फैलाने वाली संध्या आ गई तो क्या करोगे ? उस अंधकार में कुछ सूझ नहीं पड़ेगा। अतएव प्राप्त अवसर से लाभ उठालो।

जागा उसने सब कुछ पाया,
सोया उसने सब कुछ खोया।

आत्मन् ! तू असत्य भाषण करती है, छल-कपट करती है बेईमानी कर रही है, किन्तु इसे जागना नहीं कहते। यह सब तो सोने की दशा है और वह भी गहरी नींद में सोने की दशा है। ईश्वर को न मानने वाले साधुजनों की निन्दा करने वाले और पाप करने के लिए कमर कसने वाले और धर्माचरण के लिए सिरदर्द का बहाना करने वाले-सब सोये हुए हैं इसलिए कुकृत्यों का त्याग करके जागो, जल्दी जागो; नहीं तो 'म्होटो चोर लारे लागो' क्या गीता, क्या भागवत, क्या पुराण-सर्वत्र एक ही कथन है, एक ही संदेश और आदेश है कि जागो रे जागो और मोह-निद्रा को त्यागो।

भाइयों ! हम इसलिए जगा रहे हैं कि अगर तुम समय पर न जागे और सोते ही रहे तो कीड़े-मकोड़े बन जाओगे, तब क्या हम तुम्हें आचारांग और भगवती सुनाने आएँगे ? नहीं, फिर मौका नही है। जागने का समय यही है, अतः चेत जाओ। जल्दी जाग जाओ।

देखो, जागे थे जम्बू कुमार, अयवंता कुमार, भरत महाराज और माधव महाराज ! और जागे थे राम, बलदेव और गजसुकुमार ! इन्होंने समय रहते जागकर आत्मिक राज्य-लक्ष्मी की रक्षा करली, भीतर के चोरों को भगा दिया और अपने को निरापद बना लिया !

जीव जानिये जब ही जागे,
जब सब विषय विलास विरागे।

रामायण ने क्या सबक सिखाया है ? हे जीव ! जब तू विषय विलास से विलग हो जायगा, तभी समझना कि वास्तव में जागा है। जब तक तू विषय विकार का शिकार बना हुआ है, तब तक सोता है। विरक्ति ही जागृति का प्रमाण है। जब तू जाग उठेगा तो अपनी सुप्तावस्था पर हँसेगा और कहेगा कि—मैं कैसी मूढ़ता में फँसा था ! उस समय तू अपने आपको कहाँ पाएगा ? विषय-विकारों से दूर और अन्त में निर्वाण भूमि में पहुँचा हुआ पाएगा। आचार्य महाराज ने संसारी जीवों को जागृत होने की प्रेरणा करते हुए कहा है:—

जागरह नरा निच्चं, जागरमाणस्स वड्ढए बुद्धी।
जो सुअइ न सो धण्णो, जो जग्गइ सो सया धण्णो ॥

अर्थात्—अरे संसार के जीवो ! निरन्तर जागृत रहो-जागते रहो, जो सदैव जागता रहता है, उसकी बुद्धि की वृद्धि होती है। इसके विपरीत, जो सोता पड़ा रहता है वह धन्य नहीं होता धनवान् या सफलमनोरथ नहीं होता। धन्य वह होता है जो सदैव जागृत बना रहता है।

सोने से क्या हानि होती है और जागने से क्या लाभ होता है ? इस प्रश्न का उत्तर यह है कि—

सुअइ सुअं तस्स, सुअं संकिय खलियं भवे पमत्तस्स।
जागरमाणस्स सुअं, थिरपरिचियमप्पमत्तस्स॥

अर्थात्—जो मनुष्य सोता पड़ा रहता है, उसका शास्त्रीय ज्ञान भी सो जाता है—विस्मृत हो जाता है। उसे, श्रुतज्ञान में अनेक प्रकार की शंकाएँ उत्पन्न हो जाती है। उसका ज्ञान स्खलित हो जाता है। किन्तु जो जागृत रहता है, सदा अप्रमत्त बना रहता है, उसको श्रुतज्ञान की नवीन प्राप्ति तो होती ही है, साथ ही उसका पूर्वार्जित ज्ञान भी पक्का हो जाता है और ऐसा परिचित हो जाता है कि समय पर उसे स्मरण करने की आवश्यकता नहीं होती। वह सदा उपस्थित रहता है। किसी ने कुछ पूछा कि वह चटपट उत्तर देने की प्रतिभा और योग्यता से संपन्न होता है। यह जागने और सोने का फल है !

भाइयो ! जागने की इतनी प्रबल प्रेरणा करने पर आप कह सकते हैं और सोच सकते हैं कि आखिर सोये बिना काम कैसे चल सकता है ? दिन भर काम में जुते रहने के पश्चात् रात्रि में यदि शयन न किया जाय और जागते-जागते ही रात्रि व्यतीत की जाय तो जिंदगी कितने दिनों तक टिक सकेगी ? एक रात से भी अगर पूरी नींद नहीं ली जाती तो दूसरे दिन तन और मन आलस्य

से घिर जाता है। किसी काम में चित्त नहीं लगता। ऐसी स्थिति में सदैव यदि जागरण ही जागरण करते रहे तो जल्दी ही सदा के लिए सो जाना पड़ेगा।

आप यह भी कह सकते हैं कि आचारांग सूत्र में जो प्रतिपादन किया गया है कि मुनि सदा जागृत रहते हैं, सो भी कहाँ तक सही है? मुनि भी रात्रि में सोते हैं–सदा जागते नहीं रहते। भगवान् महावीर जैसे विरल महासाधकों की बात अलग है, जो बारह वर्ष तक क्षण भरके लिए भी नहीं सोये थे। पर केवलज्ञान होने से पहले एक बार उन्हें भी जरा देर के लिए निद्रा-प्रमाद ने घेर ही लिया था। ऐसी स्थिति में हमारे जैसे लोग निरन्तर जागते कैसे रह सकते हैं? और मुनियों को सदा जागृत रहने वाला किस प्रकार कहा गया है? इसका सही समाधान क्या है?

भाइयो! आपके मन के संशय की मैं कल्पना कर सकता हूँ। आपमें से कइयों को ऐसा विचार आ रहा होगा। उसका समाधान करने का प्रयत्न किया जाता है।

निद्रा दो प्रकार की होती है–द्रव्यनिद्रा और भावनिद्रा। शारीरिक एवं मानसिक थकावट के लिए जो नींद ली जाती है, वह द्रव्यनिद्रा कहलाती है। मोह के वशीभूत होकर आत्मा असत् और सत् के दर्शन से वंचित हो जाता है, आत्मदर्शन से रहित हो जाता है और विवेक शून्यता उस पर अपना अधिकार जमा लेती है, वह भावनिद्रा कहलाती है। द्रव्यनिद्रा मनुष्य के लिए कदाचित् आवश्यक हो सकती है, परन्तु वह कुछ घंटों तक ही रहती है और फिर अपने-आप भंग हो जाती है। परन्तु भावनिद्रा का कोई समय नियत नहीं है, उसके भंग होने की कोई अवधि भी निश्चित नहीं है। अनन्त प्राणी ऐसे हैं जो अनादिकाल से भावनिद्रा

में सोये हैं और अनन्त काल तक सोते ही रहेंगे। कई ऐसे हैं जो अनादिकाल से सोये हैं, परन्तु निमित्त कारण पाकर जाग जाएँगे। कई ऐसे भी हैं जो एक बार जागृत होकर फिर सो गये हैं, पर वे एक विशिष्ट अवधि में फिर जाग जाएँगे। कई प्राणी ऐसे भी हैं जो इस समय जागृत हैं और निरन्तर जागृत ही रहते हैं। ये भाव-निद्रा से जागृत पुरुष जब द्रव्यनिद्रा में सोते हैं, तब भी उनका विमल विवेक नहीं सोता है, वे भावनिद्रा की अपेक्षा जागृत ही कहे जाते हैं। इसके विपरीत जो मोह से ग्रसित हैं और विवेक से विकल हैं, वे द्रव्यनिद्रा के अधीन न होने पर भी भावनिद्रा से सुप्त ही हैं। इसी अपेक्षा से यह कहा गया है कि जो सोये हुए हैं, वे मुनि नहीं अर्थात् ज्ञानी नहीं हैं। मुनि सदा जागृत रहते हैं। कहा भी है:—

सुत्ता अमुणिओ सया, मुणिओ सुत्ता वि जागरा हुंति।
धम्मं पडुच्च एवं, निद्दासुत्तेण भइयव्वं॥

अर्थात्—अज्ञानी जीव नाना प्रकार के पापों में रत होने के कारण सदा सुप्त हैं—उनकी आन्तरिक दृष्टि बंद है किन्तु ज्ञानी पुरुष द्रव्यनिद्रा में सुप्त होने पर भावनिद्रा रहित होने के कारण सदैव जागृत होते हैं। इस प्रकार धर्म की अपेक्षा सामने रख कर सुप्त और जागृत की व्यवस्था की गई है।

भाइयो! यदि आप अपनी आत्मिक विभूति प्राप्त करना चाहते हैं और प्राप्त विभूति की रक्षा करना चाहते हैं, तो आपको भावनिद्रा के अधीन न होकर जागृत ही रहना चाहिए। जागृत रहने वाला भव्य पुरुष सदैव आनंद ही आनंद का भागी होता है।

ब्यावर }
२४-६-४७ }

११
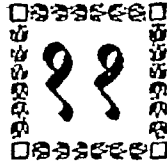
अवश्यंभावी कर्मफल

स्तुतिः—

रक्तेक्षणं समदकोकिलकण्ठनीलं,
क्रोधोद्धतं फणिनमुत्फणमापतन्तम् ।
आक्रामति क्रमयुगेन निरस्तशंक-
स्त्वन्नामनागदमनी हृदि यस्य पुंसः ॥

भगवान् ऋषभदेव की स्तुति करते हुए आचार्य महाराज फर्माते हैं—हे सर्वज्ञ, सर्वदर्शी, अनन्तशक्तिमान्, पुरुषोत्तम ऋषभदेव भगवन् ! कहाँ तक आपकी स्तुति की जाय ? हे प्रभो ! कहाँ तक आपके गुण गाये जाएँ ?

महाप्रभो ! आपके नामस्मरण में अलौकिक शक्ति है, पर होना चाहिए सच्चे और स्वच्छ अन्तःकरण से नामस्मरण । किसी पुरुष को दिन में रात में, घर में या जंगल में, गफलत में या होशियारी रखने में भी जाते हुए मार्ग में कोई भयंकर सर्प मिल

जाय और वह सर्प भी किसी के द्वारा सताया हुआ हो, कुचला हुआ हो और इस कारण क्रोध से प्रचण्ड हो रहा हो, उसकी आँखों से क्रोध की लालिमा फूट पड़ रही हो, मदोन्मत्त कोयल की तरह काला हो और भयानक फण फैलाये हुए हो, उस पर दृष्टि पड़ते ही ऐसा आभास हो कि साक्षात काल सामने आरहा है। लोक व्यवहार में कहते हैं—कुचला हुआ साँप, भागता हुआ चोर, भूखा ब्राह्मण और बिगड़ा हुआ ढोर बड़ा खतरनाक होता है। इन चारों का विश्वास नहीं करना चाहिए और दूर ही रहना चाहिए। जो इनके फेट मे आजाता है, वह अवश्य ही हानि उठाता है।

हाँ, तो ऐसा क्रुद्ध सर्प अचानक किसी को मिल गया है और वह उस पर हमला करने को तैयार है। मनुष्य को अपने बचाव का कोई मार्ग नहीं दृष्टिगोचर होता है। ऐसी घोर विपत्ति के समय यदि मनुष्य के मन में सद्बुद्धि जागृत हो जाय और वह आपके नाम के चार-अक्षरीय मंत्र को—ओं उसभं, ओं उसभं, ओं उसभं को—स्मरण करे तो वह नामस्मरण उसके लिए नागदमनी का कार्य करता है। उस मनुष्य पर सर्प का कुछ भी असर नहीं होता। प्रथम तो वह साँप उसे डँस ही नहीं सकता और कदाचित डॅस भी ले तो उसका विष कुछ भी असर नहीं करता। ऐसा अलौकिक प्रभावयुक्त है महाप्रभु भगवान् ऋषभदेव का शुभ नाम। प्रभो! कैसा भी संकट हो, विपत्ति हो या झगड़ा हो, मगर आपका नाम लेने से सब प्रकार से आनन्द हो जाता है। ऐसे भगवान् ऋषभदेव हैं। उन्हीं को वार-वार हमारा नमस्कार हो।

भगवान् के नाम में न जाने किस प्रकार का चमत्कार भरा हुआ है! नाम-मात्र का स्मरण भी मनुष्य को अनेक विपदाओं से बचा लेता है। ठीक ही कहा है—

आस्तामचिन्त्यमहिमा जिन ! संस्तवस्ते,
नामापि पाति भवतो भवतो जगन्ति ॥

हे जिनदेव ! आपके स्तवन की महिमा ऐसी विराट् है कि वह मन के द्वारा चिन्तन में भी नहीं आ सकती। मगर आपका नाम भी संसारी जीवों को जन्म-मरण की चक्की में पिसने से बचा लेता है। जिनके नाम में इतनी जबर्दस्त शक्ति है, उनका स्तवन कितना महान् फलप्रद न होगा? और जो भगवान् का ध्यान करते हैं, उनका तो कहना ही क्या है? वे तो तत्काल परमात्मा का पद पा लेते हैं—

ध्यानाज्जिनेश ! भवतो भविनः क्षणेन,
देहं विहाय परमात्मदशां व्रजन्ति ॥

प्रभो ! हे जिनराज ! भव्य जीव आपका ध्यान करके क्षण भर में ही विदेहदशा प्राप्त करके परमात्मा का पद प्राप्त कर लेते हैं।

वास्तव में वीतराग प्रभु के नाम में अपूर्व आनन्द भरा हुआ है। अतएव मनुष्य का सर्वप्रथम और सर्वोत्तम कर्त्तव्य यही है कि वह प्रमाद का परित्याग करके परमात्मा का नामस्मरण करे, भगवान् की स्तुति करे और वीतराग देव का ध्यान करे। ऐसा करने से अनायास ही उसके समस्त संकट दूर हो जाते हैं और वह सब प्रकार की पीड़ाओं से, उपाधियों और व्याधियों से छुटकारा पा लेता है। उसे अखण्ड शान्ति का अनुभव होने लगता है।

संसार के लोगो ! यदि सुख चाहते हो, आनन्द-मंगल चाहते हो और अमंगल से सदा के लिए बचना चाहते हो तो भगवान् का नाम जपो, प्रभु का गुण कीर्तन करो, उनकी स्तुति में अपने मन को लीन कर दो। मगर ऐसा करते समय मन को स्वच्छ

और पवित्र रक्खो। ऐहिक कामनाओं से चित्त को दूषित मत होने दो। सुख में भी भगवान् को याद करो और दुःख में भी याद करो। प्रत्येक परिस्थिति में प्रभु का ही नाम याद रहना चाहिए। मगर आज दुनिया की उलटी चाल हो रही है—

दुःख में सुमरन सब करे, सुख में करे न कोय।
जो सुख में सुमरन करे, दुःख काहे को होय॥

जब सिर पर दुःख का पहाड़ आ गिरता है तो राम की याद आती है। सब 'अरे राम अरे राम!' कहने लगते हैं और जब हवाखोरी को जाते हैं या गोठ में जीमने जाते हैं तो कोई राम को याद नहीं करता। हाँ खोपड़ी में लग जाय या चलते-चलते पैर में ठोकर लग जाय तो जरूर कहते हैं-'हाय राम!' जब शादी करने जाते हैं तो बींदणी को ही याद करते हैं। उस समय कोई विश्वनाथ को स्मरण नहीं करता।

कल्पना कीजिए एक हाकिम है। उसे आप किसी भी त्यौहार पर, किसी भी उत्सव पर और किसी भी हर्ष के प्रसंग पर याद नहीं करते। उसके साथ कोई सम्पर्क भी नहीं रखते। कभी हाथ भी नहीं जोड़ते। किन्तु जब अचानक कोई आफत आ पडती है तो आप उस हाकिम से कहते हैं—'हुजूर, मेरी रक्षा करो।' तो क्या वह हाकिम आपके प्रति सहानुभूति प्रदर्शित करेगा? उस समय वह तो यही कहेगा-कहाँ रहते हो? क्यों आये हो? मैं तुम्हें नहीं पहचानता। चल जाओ यहाँ से। जो किया है, उसका फल भोगो। मैं कुछ नहीं कर सकता।

कभी एक दोना भी ले जाकर प्रेम पूर्वक हाकिम साहब को दे दिया होता तो आज हाकिम साहब ऐसा न कहते। उनके स्वर में रूखापन न होता, मधुरता होती। वे सहानुभूति प्रदर्शित करते।

इसी प्रकार जो सदैव परमात्मा का जाप, स्मरण और चिन्तन करते रहते हैं, तो प्रथम तो संकट का सामना करना ही नहीं पड़ता और कदाचित पूर्वोपार्जित अशुभ कर्म के उदय से संकट आ जाय तो वह निष्फल हो जाता है ।

दो नवयुवक थे। दोनों में गहरी मित्रता थी। किसी को किसी से परहेज नहीं था। एक दिन दोनों में से एक ने कहा—चलो मित्र, आज वेश्या के यहाँ चलें। तब दूसरे ने उत्तर दिया—भाई, मैं तो महात्मा के पास जाऊँगा।

दोनों में से एक महात्मा के पास चला गया और दूसरा वेश्या के घर। वेश्या के घर जाने वाले को रास्ते में सोने की एक सांकल मिली और महात्मा के पास जाने वाले के पैर में काँटा चुभ गया ।

दूसरे दिन दोनों मित्र मिले उन्होंने अपना-अपना हाल सुनाया। तब वेश्या के घर जाने वाले ने अपने मित्र का उपहास करते हुए कहा—

करे धरम तो फूटे करम ।
करे पाप तो खावे धाप ।

देखो इस लोकोक्ति की सचाई का प्रत्यक्ष प्रमाण यही है कि तू धर्म करने गया तो तेरा कर्म फूटा-पैर में काँटा चुभा और मैं वेश्या के घर गया तो सोने की जंजीर मिली। अब कहो, तुम अच्छे रहे या मै अच्छा रहा ?

दूसरे ने कहा—तुमने जो निष्कर्ष निकाला है, उससे मैं सहमत नहीं हो सकता। आम के बीज से बंबूल नहीं उग सकता और बंबूल के बीज से आम का पौधा नही पैदा हो सकता। धर्म से संकट और पाप से सुख होना असभव है।

वेश्यागामी ने कहा—जो प्रत्यक्ष को भी झूठा कहता है उस जिद्दी को क्या कह कर समझाया जाय ?

धार्मिक बोला—तुम्हारा हमारा प्रत्यक्ष स्थूल वस्तु को ही देखता है। किस घटना के पीछे क्या रहस्य है, किस घटना की तह में क्या कारण छिपा है, यह बात हमारे प्रत्यक्ष से दिखाई नहीं देती। इसे तो कोई दिव्य ज्ञानी ही जान सकता है। अनुमान से हम यह अवश्य कह सकते हैं कि पाप कभी शुभ फल देने वाला और धर्म अशुभ फल देने वाला नहीं हो सकता। कुछ भी हो, इसका ठीक-ठीक निर्णय तो कोई विशिष्ट ज्ञानी ही कर सकते है।

आखिर दोनों ज्ञानी महात्मा के पास जाकर निर्णय कराने के लिए सहमत हो गये। वे ऐसे एक महात्मा के पास पहुँचे और सारा वृत्तान्त उन्हें सुनाकर निवेदन किया—भगवान्! आप इसका मर्म समझाइए।

ज्ञानी मुनि ने उपयोग लगाकर घटना की वास्तविकता जानी और कहा—जिसे सौ रुपया कीमत की जंजीर मिली है, उसका राजा बनने का योग था। मगर पाप-कर्म के आचरण के कारण वह योग इतना मंद हो गया कि सौ रुपया ही मिल कर समाप्त हो गया। जिसके पैर में काँटा चुभा है, उसकी मृत्यु का योग था। किन्तु संतसमागम के पुण्य के उदय से वह तीव्रतर अशुभ योग सिर्फ एक काँटा लगने में ही पूरा हो गया।

कई लोग कहते हैं—मैंने इतना भजन किया, धर्म किया, फिर भी इतना दुःख क्यों पाया ? मगर उसे समझना चाहिए कि कोई बड़ी भयानक मुसीबत आने वाली थी, वह छोटे संकट से ही टल गई है।

जो होता है सो भले के लिए ही होता है, जिसकी ऐसी समझ रहती है, उसे कभी गहरी पीड़ा का पात्र नहीं बनना पड़ता। वह प्रत्येक घटना मे किसी न किसी प्रकार के मंगल का ही आभास पाता है और इससे उसे एक प्रकार की सान्त्वना प्राप्त होती है।

बड़े भारी पुण्य का उदय हो और उस समय मनुष्य यदि कुसंगति में पड़ जाय और पापाचरण में अनुरक्त हो तो महान् पुण्य भी अल्प पुण्य के रूप में परिणत हो जाता है। इसके विपरीत, जिसे कोई घोरतर पाप का उदय होने वाला है, वह पाप भी हल्का होकर उदय में आता है। मगर इस तथ्य को सूक्ष्म रूप में सब मनुष्य समझ नहीं पाते, इस कारण भ्रम में पड़ जाते हैं और समझने लगते हैं कि धर्म करने पर भी दुःख हो गया और पाप करने पर भी सुख हो जाता है। किन्तु ज्ञानी पुरुष समझते है कि ऐसा होना असंभव है। अगर पानी स्वयं ईंधन बन कर ज्वालाएँ उगलने लगे तो धर्म के फलस्वरूप दुःख की उत्पत्ति हो सकती है। इसी प्रकार कदाचित आग मे से शीतल ज्वालाएँ निकलने लगें तो भी पाप से शुभ फल की प्राप्ति नहीं होगी। अतएव जब धर्माचरण करते-करते भी दुःख आ पड़े तो यही समझना चाहिए कि कोई बड़ी बला टल गई है। अच्छा हुआ कि इससे अधिक दुःख नहीं आया। यह मेरे इस धर्माचरण का ही प्रताप है। मैं ने धर्माचरण आरंभ न किया होता तो न मालूम और कितना अधिक कष्ट उठाना पड़ता।

इस प्रकार की सही विचारधारा उसी के चित्त में उत्पन्न होती है, जिसका निकट भविष्य में ही कल्याण होने वाला हो। जिसका कल्याण होने वाला नहीं उसके विचार उलटे ही मार्ग पर चलते हैं।

भाइयो ! पुण्य कर्म और पाप कर्म का फल परिणामधारा के द्वारा भले ही न्यूनाधिक हो जाय, परन्तु भोगना तो पड़ता ही है। कर्म सबल और निर्बल तथा धनी और निर्धन में कोई भेद नहीं करता। चक्रवर्त्ती से बढ़कर कौन मनुष्य सामर्थ्यशाली हो सकता है ? पर कर्मभोग से वह भी नहीं बच सकता। उसे भी कृत कर्म भोगने ही पड़ते हैं। ब्रह्मदत्त चक्रवर्त्ती के विषय में कहा गया है:—

श्रीब्रह्मदत्तो नरचक्रवर्त्ती,
मृत्वा गतः सोऽपि च सप्तमीं च।
निर्गत्य तस्माद्भवपङ्कमङ्गः,
तत्रापि हेतुः किल पातकस्य॥

ब्रह्मदत्त चक्रवर्त्ती मर कर सातवें नरक के अतिथि बने और फिर भी कुशल कहाँ ? वहाँ से निकल कर उन्हे फिर भव-परम्परा के कीचड़ में फँसना पड़ेगा। इसका कारण उनके द्वारा किया हुआ पाप ही था। पाप के कारण ही उनकी इतनी बुरी दुर्गति हुई।

पुण्य और पाप के फल सभी को भोगने पड़ते हैं। साधारण मनुष्य की तो बात ही क्या है, बड़े-बड़े सामर्थ्यशाली पुरुषों, यहाँ तक कि भगवान् तीर्थङ्कर को भी अपने पुरातन भवों का खाता चुकता करना पड़ता है। कर्मों का खाता पूरा हुए बिना आज तक किसी को मुक्ति नहीं मिली और न मिल ही सकती है। आप भली भाँति जानते हैं कि एक एक महापुरुष को और महासती को कितना-कितना कष्ट उठाना पड़ा है। उनके कष्टों की हृदय द्रावक कथाएँ शास्त्रों में लिखी गई हैं। इसका एक प्रधान उद्देश्य यही प्रकट करना है कि कर्म का फल भुगतना ही पड़ता है।

रामचन्द्रजी का जन्म हुआ तो बड़ी खुशी मनाई गई और जब तक सीताजी आई तब तक खुशी ही खुशी का वायुमंडल बना रहा। बाद में इन कर्मों ने रामचन्द्रजी जैसे महापुरुष को भी कितना सताया, कितना परेशान किया! उन्हें बड़ी--बड़ी मुसीबतों का सामना करना पड़ा। सारी जिंदगी वह व्याकुल ही रहे।

न भूतपूर्वो न च केन दृष्टः,
हेम्नः कुरंगो न कदापि वार्ता।
तथापि तृष्णा रघुनन्दनस्य,
विनाशकाले विपरीतबुद्धिः ॥

सोने का हिरण न कभी हुआ है और न किसी ने देखा है। किसी ने उसके होने की बात भी नहीं सुनी है। फिर भी रामचन्द्र जी को सोने के हिरण को प्राप्त करने की इच्छा हुई। वास्तव मे जब विनाश का काल आता है अर्थात विपत्ति आने वाली होती है तो मनुष्य की मति उल्टी हो जाती है। कर्म बुद्धि में विपर्यास उत्पन्न कर देते हैं।

यह है कर्म का प्रभाव! कर्म का उदय होने पर फल के भोग से कोई बच नहीं सकता। अतएव फल भोगते समय संतप्त और व्याकुल नहीं होना चाहिए। शांति और समभाव के साथ उनका फल भोगना चाहिए। ऐसा करने से आगे के लिए कर्मों का विशेष बध नहीं होता और वर्त्तमान में भोगे जाने वाले कर्म का फल भी अत्यधिक कटुक प्रतीत नहीं होता है। ऐसा प्रसंग आने पर मनुष्य को यही समझना चाहिए कि—

सुखस्य दुःखस्य न कोऽपि दाता,
परो ददातीति कुबुद्धिरेपा।

अहं करोमीति वृथाभिमानः,
स्वकर्मसूत्रग्रथितो हि लोकः ॥

वास्तव में न तो कोई किसी को सुख प्रदान कर सकता है और न दुःख ही दे सकता है। जिसे जो भी सुख या दुःख होता है, वह उसके कर्मों का फल है। दूसरे किसी ने मुझे सुख या दुःख पहुंचाया है, इस प्रकार का विचार सत्य विचार नहीं है। यह कुबुद्धि है।

इसी प्रकार मैं यह करता हूँ, वह करता हूँ, ऐसा मनुष्य वृथा अभिमान करता है। सत्य तो यह है कि लोक का प्रत्येक प्राणी कर्मों की डोरी से बँधा हुआ है कर्म सूत्रधार है और जीव उसकी कठपुतली है। कठपुतली और जीव मे अन्तर तो यही कि कठपुतली निर्जीव है, मगर जीव जीव है, ज्ञान का धनी है, अनन्त चैतन्य-शक्ति का पुंज है। अतएव जब तक वह अपनी असलियत को भूला रहता है, तभी तक कठपुतली बना रहता है। जब अपनी नैसर्गिक शक्तियों का भान उसे होता है और वह उन्हें प्रयोग में लाने का प्रयत्न करता है तो कर्मों को नष्ट कर सकता है।

हाँ, तो जिस नदी के प्रवाह में हाथी सरीखे भीमकाय जानवर भी बहे चले जा रहे हैं, वहाँ गाडर की क्या चल सकती है? बड़े-बड़े कुशल तैराक मल्लाह भी बह जाएँ तो बेचारी डोकरी की क्या बिसात है कि वह प्रवाह को पार कर सके?

रामचन्द्रजी का जन्म राजगृह नगर में हुआ था। वाल्मीकि रामायण और तुलसी रामायण आदि मे उनका जन्म अयोध्या नगरी में माना गया है, किन्तु आदर्श रामायण में ऐसा कथन किया गया है कि वह पहले राजगृह में रहते थे और फिर अयोध्या में जा बसे। इस प्रकार की मान्यता का एक कारण है।

एक बार राजा रावण की सभा भरी हुई थी। उसमें कई निमित्त वेत्ता भी बैठे हुए थे। उस समय रावण ने आँख उठाकर देखा तो उसे मालूम हुआ कि जिधर देखो उधर ही मेरे गुलाम नजर आते हैं और एक भी विरोधी नजर नहीं आता। वह १००८ विद्याओं का साधक था और इतनी विद्याएँ उसे सिद्ध हो चुकी थीं।

रावण ने विचार किया-अहा, कैसे--कैसे मेरे बेटे हैं एवं कैसे शक्तिशाली मेरे पोते हैं। विभीषण जैसा मेरा असाधारण भाई है। मैं हर तरह से बढ़ा--चढ़ा हूँ और फल--फूल रहा हूं।

इस प्रकार अपने ऐश्वर्य का विचार करके वह फूला न समाया। उसके हृदय में तीव्र अभिमान उत्पन्न हुआ। उसी अभिमान की लहर में बहते-बहते अचानक उसे एक बात याद आई। उसने निमित्त शास्त्रवेत्ताओं से कहा-कुंडली बनाकर और मीन-मेष लगाकर और पूरा हिसाब लगाकर बतलाओ कि मेरी मृत्यु किस प्रकार होगी? मैं अपनी मौत से मरूँगा या किसी के हाथ से मारा जाऊँगा? जिसने जन्म लिया है, उसका मरण ध्रुव है। मौत से न कोई बचा है, न बचेगा और न बच ही सकता है। सब विद्याएँ मेरे हाथ में हैं और सब प्रकार का ठाठ है, लेकिन मौत तो एक दिन अवश्य आएगी। वह किसी भी उपाय से रुकने वाली नहीं।

रावण की सभा में उस समय नारदजी भी बैठे हुए थे। रावण की यह बात सुनकर बड़े-बड़े ज्योतिषियों ने मीन, मेष, मकर और कुंभ की गणना करके, शुभ समय में कुंडली बना कर उसका फल निकाल लिया।

कई ज्योतिषी ऐसे भी होते हैं कि बराबर गणित की ऐसी बात कह देते हैं जैसे केवली ही कह रहे हों, मगर खूब होशियारी

रखने पर ही यह बात होती है। जरा-सा फर्क पड़ा नहीं कि घोटाला होने में कसर नहीं रहती।

देखो, जोधपुर से चडू पचांग निकलता है। उसके संचालक चंडू का जन्म होने का समय जब सन्निकट आया तो उसने दाई को हुक्म दिया कि बच्चे का प्रसव होते ही बाहर नीबू फैंक देना। दाई ने ऐसा ही किया। ज्यों ही बालक का प्रसव हुआ कि उसने नीबू बाहर फैंका। मगर वह किसी जगह देहली से टकराकर फिर वहीं उचट गया। उसने उसे उठा कर फिर वाहर फैंका। नींबू के गिरते ही पंडित ने, जो ज्योतिष शास्त्र का प्रचण्ड विद्वान् था, समय देखकर कुंडली बनाई। कुंडली बनाकर वह प्रतिदिन उसका मनन करने लगा। मनन करते-करते आठ दस दिन में वह इस नतीजे पर पहुँचा कि अगर पिता पुत्र का मुख देखेगा तो उसे गधे पर चढ़ने का हुक्म होगा।

ज्योतिषी ने विचार किया-गधे पर उसी को बिठलाया जाता है जो कोई बड़ा अपराध करता है। खोटा काम किये बिना किसी को ऐसा दण्ड नहीं मिलता। अगर मुझे यह दंड भोगना पड़ा तो मेरी और मेरे पुरुखाओं की इज्जत भी धूल में मिल जायगी।

इस प्रकार पशोपेश में पड़कर आखिर उसने यही तय किया कि चुपचाप घर से निकल जाना ही अच्छा है। न तो बेटे का मुँह देखूँगा और न गधे पर बैठने का दंड ही भोगना पड़ेगा।

ज्योतिषी ने कुंडली की दूसरी प्रतिलिपि की। एक नकल घर पर रख दी और एक साथ ले ली। घर वालों को बिना सूचना दिये ही वह बाहर चला गया।

ज्योतिषी निरुद्देश्य सा घूमता-घूमता एक नगर में जा पहुंचा। अपनी विद्वत्ता के प्रभाव से राजा के दरबार तक उसकी पहुंच हो गई। राजा के आश्रित और भी कई ज्योतिषी थे और उनका एक मंडल था। इस नये ज्योतिषी का भी नाम उस मंडल में सम्मिलित कर लिया गया। धीरे-धीरे इसकी विद्वत्ता प्रकाश में आने लगी। कई बार ऐसे प्रसंग आये कि ज्योतिषियों में किसी विषय को लेकर मतभिन्नता हुई। किसी ने कहा-'ऐसा होगा' तो इसने उसके विरुद्ध मत प्रकट करते हुए कुछ और कहा। अन्त में इसकी बात ही सिद्ध हुई और इससे इसका प्रभाव बढ़ गया।

शनैः शनैः राजा का इस ज्योतिषी पर विश्वास जम गया। यह प्रधान राजज्योतिषी के पद पर आसीन हो गया। राजा इसका बड़ा सत्कार करने लगा।

इधर लड़का भी धीरे-धीरे बड़ा होता गया। सात-आठ वर्ष का होने पर विद्याध्ययन करने लगा। १८-२० वर्ष का हुआ तो ज्योतिष में और अष्टांग निमित्त विद्याओं मे पारंगत हो गया।

सहसा एक दिन लड़के को न जाने क्या सूझा कि उसने अपनी माता से पिता के विषय में पूछा। कहा-माताजी, मेरे पिताश्री कहाँ हैं?

माता ने म्लानमुख होकर कहा—लाल, जब तेरा जन्म हुआ तभी से वह न जाने कहाँ चले गये हैं। किसी से कुछ कहा-सुना भी नहीं। तब से अब तक उनका कुछ भी पता नहीं चला है।

लड़के ने पूछा—मेरी कुन्डली है क्या?

माता—मुझे तो मालूम नहीं, परन्तु होनी अवश्य चाहिए। जिन्होंने दुनिया के लड़कों की कुन्डलियाँ बनाईं, वे क्या अपने लड़के की कुन्डली नहीं बनाएँगे?

इतना कह कर माता ने एक अलमारी की ओर इशारा करते हुए कहा—इसमें तुम्हारे पिताजी के हाथ के बहुत से कागजात रक्खे हैं। इनमें देखो, शायद कुन्डली तुम्हारी मिल जाय।

लड़के ने कुन्डली खोजी और वह मिल भी गई। तब उसने कुन्डली पर मनन करना आरंभ किया। मनन करने पर उसे पता चला कि संभवतः पिताजी इस कुन्डली के कारण ही गृह त्याग कर चले गये हैं। घर रहते तो मेरा मुँह देखना ही पड़ता और मुँह देखने पर गधे की सवारी का योग था।

लड़के ने माँ से पूछा-मेरे जन्म के समय पिताजी ने और भी कुछ कहा था ?

माता—हाँ, दाई को सूचित किया था कि बच्चे के जन्मते ऊपर से नीबू फैंक देना।

लड़का—माँ, मैं एकबार उस दाई से मिलना चाहता हूँ। उसे बुलवाओ तो सही।

दाई बुलाई गई। लड़के ने उससे पूछा—क्या तुमने ठीक मेरे जन्म के समय ही नीबू फैंक दिया था ?

दाई ने कहा—हाँ, फैंक तो दिया था जन्मते ही, परन्तु वह नींबू एक बार देहली से टकरा कर वापिस आ गया था और तब दूसरी बार लेकर फैंका था।

तब लड़का समझ गया कि इतने स्वल्प काल के भेद से ही कुन्डली में फर्क पड़ गया है। जो कालभेद मोटे तौर पर नगण्य-सा प्रतीत होता है, वही कभी-कभी कुन्डली में बहुत अधिक भेद उत्पन्न कर देता है। इस कुन्डली के विषय में ऐसा ही हुआ है और सूक्ष्म समयभेद के कारण अर्थ का अनर्थ हो गया है।

लड़के ने उतना समय कम करके दूसरी कुन्डली तैयार की। फिर उसके फलादेश पर विचार किया। पता चला कि यदि इस कुन्डली वाले का मुख उसका पिता देख ले तो उसे हाथी की सवारी मिले। इस फलादेश से लड़के को अपार हर्ष हुआ। उसने यह निष्कर्ष निकलते ही अपनी माता से कहा—मैं घर की खाने-पीने आदि की व्यवस्था कर देता हूं और पिताजी की खोज में जाता हूँ। मैं पिताजी को खोज कर ही दम लूंगा।

गृहव्यवस्था करके लड़का घर से निकल पड़ा। इधर-उधर भ्रमण करते-करते वह भी उसी नगर मे पहुँचा, जहाँ उसका पिता राजज्योतिषी था। उस नगर में एक स्थान पर वह ठहर गया।

उन्हीं दिनों एक बार राजज्योतिषी ने कहा—अमुक समय पर इतनी अधिक वृष्टि होगी कि आपका कुन्ड भर जाएगा और एक मच्छ कुन्ड में पड़ेगा।

इस भविष्य वाणी को प्रसिद्धि सारे शहर में हो गई। इस लड़के ने भी भविष्यवाणी सुनी और उस पर विचार किया। वह राजसभा में जाकर राजा से कहा—महाराज, मच्छ पड़ेगा तो सही मगर आधा कुन्ड मे और आधा कुन्ड के बाहर लटकता हुआ होगा।

राजा ने कहा—इस समय राजज्योतिषी यहाँ मौजूद नही है, तथापि तुम अपनी बात लिखकर दे दो।

लड़के ने लिख दिया।

वर्षा का कथित समय आया तो राजा बहुत से लोगों के साथ कुंड पर गये। नियत समय पर वर्षा हुई और इतनी जोरदार कि एक मच्छ भी गिरा और वह आधा कुंड में तथा आधा

बाहर रह गया। सब के आश्चर्य का पार न रहा। आखिर ज्योतिषियों ने जो कहा था सो सच साबित हुआ। खास तौर पर नये युवक ज्योतिषी की बात बावन तोला पाव रत्ती सही निकली। राजा ने उसका अभिनन्दन किया।

राजा ने दोनों ज्योतिषियों को कई हजार का पारितोषिक दिया और इतना सन्मान किया कि हाथी के हौदे पर बिठलाकर नगर में दोनों की सवारी निकाली गई।

जब दोनों हाथी के हौदे पर बैठे थे तो राज ज्योतिषी ने नवागत ज्योतिषी से पूछा-आपका निवास स्थान कहाँ है ?

नये ज्योतिषी ने अपना गाँव बतलाया तो राजज्योतिषी ने कहा—उस गाँव में तो मै भी रह चुका हूँ।

लड़का समझ गया कि यही मेरे पिता प्रतीत होते हैं। शका दूर करने के लिए उसने पूछा-आपके यहाँ किसी पुत्र का जन्म हुआ था ?

राज ज्योतिषी—हाँ।

नव ज्योतिषी—और आप उसके जन्म के बाद ही मुख देखे बिना चले आये थे ?

राज ज्योतिषी के मन में यह प्रश्न सुनकर उथल-पुथल सी मच गई। उसने यह रहस्य किसी पर प्रकट नहीं किया था। सोचा इसे कैसे मालूम हो गया ? उसने शंकित भाव से नवयुवक की ओर देखते हुए कहा—तुम ठीक कहते हो। पर तुम्हें यह सब कैसे मालूम हुआ ?

नवयुवक बोला—मै ही आपका वह बेटा हूं।

राज ज्योतिषी उसकी बात पर संदेह नहीं कर सका। उसे विश्वास हो गया कि यह सत्य कहता है और यह मेरा पुत्र ही होना चाहिए। फिर भी वह च.कत था।

पिता के आश्चर्य को दूर करने के लिए पुत्र ने कहा-पिताजी मैंने जब ज्योतिष शास्त्र का अध्ययन कर लिया तो दाई से पूछताछ करके नवीन कुंडली बनाई। आपकी बनाई कुंडली में समय का फर्क था, वह नवीन कुंडली से दूर हो गया। गधे की सवारी के बदले हाथी की सवारी का योग निकला। तब मैं आपकी खोज में निकल पड़ा और अब आपके श्रीचरणों में उपस्थित हूँ।

बाप ने बेटे को गले से लगा लिया। लोग देखकर कहने लगे-यह क्या मामला है? अस्तु

जरा सा समय भी कितना महत्त्व रखता है, यह बात इस घटना से ज्ञात हो जाती है। नगण्य-से समयभेद ने फलादेश में कितना वृहद् अन्तर पैदा कर दिया? कई लोग ज्योतिष शास्त्र की सचाई पर विश्वास नहीं करते हैं। इसका कारण यही है कि किसी न किसी प्रकार की गड़बड़ी के कारण फलादेश में भूल हो जाती है। वह यथार्थ नहीं सिद्ध होता और इसी से लोग शास्त्र के संबंध में ही उलटी धारणा बना लेते हैं। किन्तु अपने आप में ज्योतिष शास्त्र अप्रमाणिक नहीं है। हाँ, इसकी साधना ठीक और पूरी होनी चाहिए। पूरा दिमाग लगाया जाय, सही गणित किया जाय और समय ठीक निश्चित हो तो बात सही निकलती है।

हाँ, तो रावण की सभा के बड़े-बड़े ज्योतिषी कुंडली बना कर उसका फल सुनाते हैं। कहते हैं-महाराज! आप अपनी मौत से नहीं मरेंगे। आप दशरथ के पुत्र रामचन्द्र के साथ युद्ध करते हुए लक्ष्मण के हाथ से मारे जाएँगे। जनकसुता सीता आपकी मौत का कारण बनेगी।

यह फलादेश सुनते ही राजा रावण का मुख फीका पड़ गया। सारी सभा सन्नाटे में आ गई! तब विभीषण बोले-राजन्!

हे बन्धुवर ! आप चिन्ता न करें। मैं ऐसा उपाय करता हूँ कि न रहेगा बांस न बजेगी बांसुरी ! अर्थात् मैं दशरथ और जनक का सिर काट कर ले आता हूँ, जिससे न उनके लड़का लड़की होगी और न उस निमित्त से आपको मृत्यु ही होगी।

विभीषण की बात नारद ऋषि ने सुनी। सुनते ही वह रावण से विदा लेकर बड़े तीव्र वेग से वहाँ से रवाना हुए और सीधे राजा दशरथ के पास पहुँचे। उन्होंने राजा दशरथ को सारी सूचना कर दी। फिर मिथिला जाकर राजा जनक को भी लंका में घटित घटना का समग्र वृत्तान्त कह सुनाया।

राजा दशरथ ने अपनी रानियों और मंत्रियों को यह हाल सुनाया। सब ने परामर्श करके कहा—आप चिन्ता न करें। हम सब प्रबंध कर लेंगे। आप जंगल में चले जाइए।

दशरथ वन में चले गये। इधर उनके मंत्रियों ने एक पुतला बनाया। पुतला लकड़ी का था और हूबहू दशरथ जैसा ही जान पड़ता था। उसके भीतर खून भी भर दिया गया था। उस पुतले पर एक वस्त्र ढँक दिया और उसे शय्या पर सुला दिया।

इसी प्रकार जनक के संबंध में किया गया। उनका भी पुतला बनाया गया और असली जनक को जंगल में भेज दिया गया।

उधर विभीषण ने मिथिला के राजभवन में पहुँच कर पूछा-राजा जनक कहाँ हैं ? परिचारकों ने कहा महल में शयन कर रहे हैं।

विभीषण रात्रि के समय, शयनागार में जाकर और चट से सिर उतार कर रवाना हो गया। सिर नदी में बहा दिया। और फिर इसी प्रकार दशरथ महाराज का भी सिर काट कर ले गया।

विभीषण को शीश उतारते देखकर रानियाँ झूठ मूठ रोने लगीं। विभीषण को तनिक भी सन्देह न हुआ कि वह धोखा खा रहे है। दोनों राजाओं का मस्तक काट लेने के पश्चात् विभीषण रावण के पास गये और बोले-भाई ! अब आप निश्चिन्त रहिए। मन में किसी भी प्रकार का भय न रहने दें और प्रमोद के साथ राज्य करें मैं ने उन दोनों राजाओं के मस्तक काट कर फैंक दिये हैं। जब वह राजा ही न रहे तो उनकी सन्तान कहाँ से आएगी ? और फिर आपका अनिष्ट भी कैसे होगा ?

राजा दशरथ और जनक जंगल में घूम रहे थे। इसी समय कैकेयी का स्वयंवर हुआ। उसमें महाराज दशरथ भी गरीब वेष में सम्मिलित हुए। उस समय दशरथ की ढलती हुई उम्र थी। फिर भी राजसी तेज उनके सलोने मुखमंडल पर किलोलें करता था। वह तेज इतना उग्र था कि गरीब-वेष में भी छिपा नहीं रह सका। उम्र का ढलाव उसे कम नहीं कर सका। उस पर मुग्ध होकर कैकेयी ने इनके गले में वरमाला डाल दी।

स्वयंवर-मंडप में उपस्थित नृपतिगण आश्चर्य के सागर में अवगाहन करने लगे। कैकेयी की दुर्बुद्धि पर उन्हें तरस ही नहीं, क्रोध भी आया। वह सोचने लगे-यदि इस दरिद्र को ही वरण करना अभीष्ट था तो हम लोगों को आमन्त्रित करने की क्या आवश्यकता थी ? हमें वृथा बुलाया। बुलाकर हमारा अपमान किया गया है।

राजा एकदम क्षुब्ध हो उठे मगर स्वयंवर की मर्यादा का लोप नहीं हो सकता था। कन्या को पूर्ण स्वतंत्रता प्राप्त थी। वह जिसे चाहे, वरण करे। लड़की जिसे चाहे वही उसका पति हो जाय। अतएव कन्या के पिता ने दृढ़तापूर्वक कन्या के चुनाव का समर्थन किया। राजा फिर भी सन्तुष्ट नहीं हुए।

युद्ध का अवसर उपस्थित हुआ। कन्या के पिता एवं राजा दशरथ ने उन राजाओं से युद्ध किया। इस युद्ध में स्वयं कैकेयी ने दशरथ का रथ चलाया। अन्त में दशरथ की विजय हुई।

विजयी होकर दशरथ ने जब राजमहल में प्रवेश किया तो रथ संचालन के कौशल से प्रसन्न होकर राजा दशरथ ने कैकेयी से वर माँगने का प्रस्ताव किया।

कैकेयी ने कहा-प्राणनाथ! वर आपके भण्डार में जमा रहने दीजिए। आवश्यकता होने पर माँग लूँगी।

इसके बाद महाराज दशरथ राजगृही नगरी में रहने लगे। उन्होंने अपनी अन्य रानियों को भी अपने पास ही बुला लिया।

महाराज जनक भी मिथिला में वापिस लौट आए, पर वह गुप्त रूप से ही रहने लगे।

कुछ समय पश्चात दशरथ की महारानी कौशल्या ने चार स्वप्न देखे और यथा समय रामचन्द्र का जन्म हुआ। दूसरी रानी सुमित्रा को भी सात स्वप्न दिखाई दिये और उनके उदर से लक्ष्मण का जन्म हुआ। कैकयी से भरत और अपराजिता रानी से शत्रुघ्न का जन्म हुआ। इस प्रकार चारों रानियों से चार राजकुमारों का जन्म हुआ। जब वे बड़े हुए तो बहुत चमत्कारी हुए। उन्होंने अपने पराक्रम के बल पर पुनः अयोध्या पर अपनी सत्ता स्थापित की।

इस कथानक से आप समझ सकेंगे कि रामचन्द्रजी का जन्म तो राजगृही मे हुआ था, मगर बाद में वे अयोध्या में चले गए थे।

यह वृत्तान्त दूसरी रामायणों मे नहीं है। कई मज़हब हैं और कई आचार्य हैं। उनके द्वारा निर्मित ग्रंथों में कुछ न कुछ

भेद रहता ही है। आज जो वाल्मीकीय रामायण उपलब्ध है, वह सारी उनकी बनाई नहीं है। समय-समय पर अनेकों ने उसकी वृद्धि की है। ऐसा विद्वानों का मन्तव्य है।

भगवद्‌गीता भी सारी महाभारत के समय की बनी है, यह मानना उचित नहीं। लड़ाई के समय इतनी फुर्सत कैसे मिल सकती है कि पूरा का पूरा एक बड़ा ग्रंथ बनाया जा सके। हाँ, हो सकता है कि कुछ श्लोकों का निर्माण उस समय किया गया हो। लोकमान्य तिलक ने इस सबंध में अच्छा ऊहापोह किया है और बतलाया है कि अमुक श्लोक फलां उपनिषद् का है और फलां श्लोक अमुक उपनिषद् का है। इस प्रकार मूल में थोड़े से श्लोक बने और फिर बाद मे उसमें वृद्धि होती रही।

वाल्मीकि रामायण और तुलसीदासजी की रामायण के प्रसंगों और वर्णनों में भी अन्तर है। वाल्मीकि रामायण में लिखा है कि ऋषियों के खून से सीता का जन्म हुआ। किसी ने लिखा है कि वह रावण की ही बेटी थी। आदर्श रामायण में यह बतलाया गया है कि वैदेही महारानी के युगल सन्तान का जन्म हुआ था, जिसमें एक पुत्र था और एक पुत्री थी। पुत्र का नाम भामंडल था और पुत्री का नाम सीता रक्खा गया था।

हां, तो यहाँ सिर्फ यही कहना है कि ऐसे-ऐसे तेजस्वी महापुरुषों को भी कितने कष्ट उठाने पड़े। मगर उनकी अनुकरणीय विशेषता तो यह है कि भयानक से भयानक संकट आने पर भी वे अपने मार्ग से रंच मात्र भी विचलित नहीं हुए।

भगवान् महावीर विश्व के श्रेष्ठतम महापुरुष थे। उन्हें भी साधक-जीवन में घोर कष्ट सहन करने पड़े। उनके जन्म के समय का वृत्तान्त सुनिये—

अवतार लिया जब भारत में,
जिस समय आ त्रिशलानन्दन ने ।
उद्योत हुआ त्रिलोक विषय,
लिया जन्म त्रिशलानन्दन ने ॥

भगवान् पार्श्वनाथ के, जो तेईसवें तीर्थंकर थे, २५० वर्ष बाद महावीर स्वामी का जन्म हुआ । आधुनिक बिहार प्रान्त में कुन्डनपुर नामक नगर था । वहाँ सिद्धार्थ राजा राज्य करते थे । उनकी रानी त्रिशलादेवी के उदर से, चैत्र शुक्ला त्रयोदशी के दिन भगवान् का जन्म हुआ । आप तीस वर्ष तक गृहस्थाश्रम में रहे । अन्तिम दो वर्षों में सचित्त जल और सचित्त वस्तु का सेवन नहीं किया । बाद में संयम धारण करके साधु बन गये । साधु बनने का प्रयोजन था शेष रहे कर्मों को तोड़ना । कर्मों को तोड़ने के लिए नाना प्रकार के परीषह सहन किये । इतने कठोर परीषह कि उनका वृत्तान्त सुनने मात्र से साधारण मनुष्यों का हृदय काँपने लगता है । वह आर्य देशों में तो विचरते ही थे, पर अनार्य देशों में भी गये । कहा है—

णो सुगरमेगेसिं, णाभिभासे अभिवायमाणे ।
हयपुव्वो तत्थ दंडेहिं, लूसियपुव्वो अपुन्नेहिं ॥

—श्रीमद् आचारांग सूत्र

भगवान् ने अकेले ही साधुदीक्षा अंगीकार की और बेले-बेले पारणा करना आरंभ किया । बीच-बीच में कभी-कभी मास खमण भी करते थे । कभी दो मास में और कभी तीन-चार मास में भी आहार ग्रहण किया करते थे । एक बार छह महीने

का तप किया और एक बार पाँच दिन कम छह महीने तक निराहार रहे।

अनार्य देश में गये तब भी कोई पूछता तो कभी-कभी मौन रहते और कभी उत्तर देते भी तो अपना परिचय देते हुए सिर्फ यही कहते' मै भिक्षु हूं' उन्होंने यह नहीं कहा कि मै तीर्थंकर हूँ, भगवान हूं, राजा सिद्धार्थ का पुत्र हूं और देव-देवेन्द्रो ने स्वर्ग से आकर मेरा जन्महोत्सव मनाया था।

आज क्या स्थिति है ? आज यह कहने में गौरव समझा जाता है कि मैं आचार्य हूँ, पूज्य हूँ। सच ही है यह कहावत कि-थोथा चना बाजे घना। बड़े कभी अपने मुख से बड़ाई नहीं करते। कहा है—

बड़ो बड़ाई ना करे, बड़ो न बोले बोल।
हीरा मुख से ना कहे, लाख हमारो मोल॥

यह जिक्र तो छद्मस्थ अवस्था का है। जब भगवान् केवली हुए और समवसरण की रचना हुई तब भी भगवान् ने यह नहीं कहा कि मै त्रिलोकपूज्य हूँ, भगवान् हूं और मैं तुम्हारे सब पापों का नाश कर दूंगा, तुम मेरी भक्ति करो। वे धर्मोपदेश देते हुए यही फर्माते थे कि जो भव्य प्राणी धर्म का आराधन करेगा उसका कल्याण होगा और वही मुक्ति पाएगा। उन्होंने कभी यह दावा नहीं किया कि मैं किसी को मोक्ष में भेज दूंगा। उन्होंने जो सत्य तत्त्व था, सत्य मार्ग था, वही बतलाया। मुक्ति के मार्ग में बाधक कौन है ? किस प्रकार उसे दूर किया जा सकता है ? किस ज्ञान और आचरण से मुक्ति प्राप्त हो सकती है ? आत्मा को किस प्रकार शान्ति प्राप्त हो सकती है ? यह सब बतलाया। जिसे भगवान् का उपदेश पसंद आया, उसने ग्रहण किया, स्वीकार किया

और उसके अनुसार आचरण किया। उसका कल्याण हुआ जिसके गुरुतर कर्मों का उदय था और इस कारण जिसने भगवान् के उपदेश को स्वीकार नहीं किया। उस पर किसी ने कोई दबाव नहीं डाला।

भगवान् ने परिपूर्ण ज्ञान प्राप्त किया था और उसे प्राप्त करने के लिए बड़ी ही उग्र साधना की थी। अनार्य भूमि में विचरण करते समय उनको अनेक प्रकार की घोर यातनाएँ सहन करनी पड़ी थीं। उस समय वे कुछ बोलते नहीं थे। लोग समझते थे कि यह कोई डाकू हैं। लुटेरे हैं। हमारे घर का भेद लेने आये हैं। अतएव वे अनार्य लोग उन्हें लकड़ी से मारते, धूल डालते, यहाँ तक कि धूल में गाड़ देते थे। कोई-कोई भगवान् के बाल पकड़ कर खींच लेते थे।

अनार्य देश के असभ्य मनुष्य भगवान् की ऐसी हालत करते थे। वे पुण्यहीन, धर्महीन और संस्कारहीन मनुष्य थे। पशुओं की भांति विवेक से शून्य थे। उन्हें मानवीय उच्च आदर्शों का पता नहीं था। कर्त्तव्य का भान नहीं था। सभ्यता और शिष्टता से भी कोसों दूर थे। फिर भी भगवान् की उनके प्रति अनन्त अनुकम्पा थी। वे उनका भी हित चाहते थे। हित न चाहते होते तो वहाँ जाते ही क्यों? उनका भी उद्धार उन्हें अभिप्रेत था। भगवान् ने उनके दिये कष्ट को कष्ट नहीं माना, बल्कि यह समझा कि यह लोग मेरे कर्मक्षय में सहायक बन रहे हैं।

एक बार जब भगवान् पर कष्ट आया तो इन्द्र महाराज ने उपस्थित होकर निवेदन किया—प्रभो! आपके कष्ट हमारे लिए असह्य है। अन्य बहुत-से कष्ट भी आने वाले हैं। मैं स्वयं आपकी सेवा में रहना चाहता हूँ और आपको सब प्रकार के संकटों एवं कष्टों से बचाना चाहता हूं। मुझे अनुमति दीजिए।

तब भगवान् ने फर्माया—इन्द्र ! तुम्हारी प्रशस्त भावना को मैं समझता हूँ। परन्तु तीर्थंकर दूसरे की सहायता से भव-सागर को पार नहीं करते। मेरे कर्म ही मेरी सहायता करेंगे। मैं निज के पराक्रम से ही कष्टों के सागर को पार करूँगा। दूसरो की सहायता लेना अपनी निर्बलता का पोषण करना है। अतएव तुम मेरी चिन्ता न करो। मैं ने ही कर्मों का उपार्जन किया है। और मैं ही उनको भोग कर कर क्षीण करूँगा। मुझमे इतना सामर्थ्य है कि मैं सब संकटों को समभाव से झेल सकूँगा।

केवली होने पर भी भगवान् ने यही कहा था—

पुरिसा ! तुममेव तुमं मित्तं।
किं बहिया मित्तमिच्छसि ? ॥

हे पुरुष ! तू स्वयं ही अपना मित्र है—सहायक है, बन्धु है। अपनी शक्ति को पहचान। अपनी असीम क्षमताओं को समझने का प्रयत्न कर। क्यों बाहर के मित्र की इच्छा करता है ? क्यों किसी के सामने दीनभाव धारण करता है ? क्यों सहायता के लिए हाथ पसारता है और गिड़गिड़ाता है। अन्ततः तेरी शक्ति ही तेरे काम आएगी। परावलम्बी क्यों बनता है ?

इस प्रकार स्वयं बिना माँगे, प्राप्त हुई इन्द्र की सहायता को भी ठुकरा देने वाले और जगत को स्वावलम्बी बनने का पाठ पढ़ाने वाले भगवान् महावीर मानव जाति के लिये सदैव महान् आदर्श रूप हैं। उनके उपदेशों में सर्वत्र यह गर्भित है कि कोई किसी को दुखी-सुखी नहीं बना सकता। सब प्राणी अपने-अपने कर्मों के अनुरूप ही सुख-दुःख पाते हैं।

सुखस्य दुःखस्य न कोऽपि दाता,
परो ददातीति विमुञ्च शेमुषीम् ॥

तुझे सुख या दुःख देने वाला दूसरा कोई नहीं है। तू इस धारणा का परित्याग कर दे कि दूसरे ने तुझे सुखी या दुखी किया है। अपने किसी भी कर्मफल के लिए तू दूसरे को उत्तरदायी मत बना। अपने आपको उत्तरदायी मान कर चलेगा तो तेरे समभाव की रक्षा होगी। दूसरे पर उत्तरदायित्व लादेगा तो अन्तःकरण में राग-द्वेष का विकार उत्पन्न होगा। इससे पुनः कर्मों का बंध होगा और फिर भव परम्परा चलती रहेगी।

इस प्रकार भगवान् ने जगत् के हित के लिए जो मार्ग बतलाया, वे पहले स्वयं उस पर चले थे। उस पर चलने से अनेक अनेक कष्ट आये, मगर उन्होंने कभी पाँव पीछा नहीं रक्खा। यह नहीं कि 'आप गुरुजी कांदा खावे, दूजां ने उपदेश सुनावे।'

अपने लिए दूसरी बात और दूसरों के लिए दूसरी बात। अपने लिये एक मार्ग और दूसरों के लिए दूसरा मार्ग। यह एक प्रकार की छलना है। आत्म प्रतारणा है। भगवान् ने ऐसा कभी नहीं किया। यही कारण है कि आज आप उन्हें भगवान् मानते हैं, तरण-तारण की जहाज समझते हैं और उनके प्रति अपनी आन्तरिक श्रद्धा-भक्ति प्रकट करते हैं।

भगवान् ने कठिन तपश्चर्या करके शुद्ध बोध प्राप्त किया आत्मा की समस्त स्वाभाविक शक्तियों का विकास किया। वे अनन्तज्ञानी, अनन्त दर्शनी, अनन्त वीर्यवान एवं अनन्त सुख के धनी हुए। यह सब उस तपस्या का ही परिणाम था।

यह बात विशेष ध्यान देने योग्य है कि यद्यपि भगवान् जन्म लेते समय ही अवधिज्ञान के धारक थे और दीक्षा लेते ही मनः पर्याय ज्ञान प्राप्त कर चुके थे, फिर भी जब तक साधना करते रहे, तब तक मौन ही रहे–धर्मोपदेश के नाम पर एक भी शब्द न बोले। जब उनकी साधना निष्ठा को प्राप्त हुई और परिपूर्ण ज्ञान प्राप्त हो गया, तभी उन्होंने जगत के जीवों का कल्याण करने के लिए उपदेश देना आरंभ किया।

अभिप्राय यह है कि कर्मों का फल तो सभी को भोगना पड़ता है, मगर जो समभाव से भोगते हैं, वे निष्कर्म हो जाते हैं और जो राग-द्वेष से जलते हुए भोगते हैं वे और ज्यादा कर्म बाँध लेते है। अतएव जब शुभ कर्म का उदय हो तब भी समभाव धारण करना चाहिए। प्रत्येक अवस्था में परमात्मा का स्मरण करना चाहिए। जो ऐसा करेंगे वे आनन्द ही आनन्द पाएँगे।

ब्यावर
२४–१०–४७

पर्याय-परिणमन

स्तुति:—

वल्गत्तुरंगगजगर्जितभीमनाद—
माजौ बलं बलवतामपि भूपतीनाम् ।
उद्यद्दिवाकरमयूखशिखापविद्धं,
त्वत्कीर्त्तनात्तम इवाशु भिदामुपैति ॥

भगवान् ऋषभदेव की स्तुति करते हुए आचार्य महाराज फर्माते है-हे सर्वज्ञ, सर्वदर्शी, अनन्तशक्तिमान्, पुरुषोत्तम ऋषभदेव भगवन् ! कहाँ तक आपकी स्तुति की जाय ? हे प्रभो ! कहाँ तक आपके गुण गाये जाएँ ?

महाप्रभो ! कोई पुरुप अतिशय भीषण संग्राम में गया है। संग्राम भूमि में घोड़े हिनहिना रहे हैं और गजराज चिंघाड़ रहे हैं। रथों की झनझनाहट हो रही है। फौज बड़ा जबर्दस्त है। उस समरक्षेत्र में भयानक शब्द सुनाई दे रहे हैं। 'मारो, काटो, प्रहार

करो कुचल दो, मसल दो' की कर्ण कटुक ध्वनि कानों में पड़ रही है और कलेजे को कंपित कर रही है। ऐसे विकट और विपत्तिमय समय में अगर कोई भक्त योद्धा आपका गुणानुवाद करता है तो विरोधी सैन्यदल उसी प्रकार भाग जाता है जैसे सूर्य का उदय होते ही अंधकार नष्ट हो जाता है।

भगवन्! आपके अमित प्रभावमय नाम में अद्भुत शक्ति है। इतनी जबर्दस्त शक्ति कि प्रबल से प्रबल सेना भी उसी प्रकार भाग खड़ी होती है जैसे खेत की रखवाली करने वाले के ताली बजाने पर चिड़ियाँ भाग जाती हैं। जिनके नाम में इतना अतर्क्य और अचिन्त्य प्रभाव है, उन ऋषभदेव भगवान को ही हमारा वार-वार नमस्कार हो।

आदिदेव! मानव-सेना की तो बात ही क्या है, आपका नाम लेने से कर्मसेना भी भाग जाती है। जिस आत्मा ने आपके वचनामृत का पान किया है और अपने स्वरूप को पहचान लिया है और कर्मों के आगमन के कारणों का निरोध कर दिया है, वह नवीन कर्मों के बंध से बच जाता है। यह एक सर्वमान्य सिद्धान्त है कि कारण के अभाव में कार्य का भी अभाव होता है। कारण न होगा तो कार्य कैसे पैदा हो सकता है? बीज के बिना अंकुर नहीं उग सकता। आटा कारण और रोटी कार्य है तो आटे के बिना आटे की रोटी किस प्रकार बनेगी? शक्कर से बनने वाली मिठाई शक्कर के अभाव में नहीं बन सकती। इसी प्रकार जब कर्मबंध का कारण आस्रव रुक जाता है तो उसके फलस्वरूप होने वाला कर्मबंध भी रुक जाता है।

भगवान् ने फर्माया है कि संक्षेप में राग और द्वेष ही कर्म-बंध के कारण हैं—

रागो य दोसो वि य कम्मबीजं ।

राग और द्वेष ही कर्म बंध के कारण हैं। जब इन कारणों से कर्म का बंध हो जाता है तो अबाधाकाल समाप्त होने पर वे उदय में आते हैं और अपना फल प्रदान करते हैं। कर्मोदय के प्रभाव से जीवों की क्या स्थिति होती है, यह आचारांग सूत्र में बतलाया है:—

अदुवा थावरा तसत्ताए, तसजीवा य थावरत्ताए,
अदुवा सव्वजोणिया सत्ता कम्मुणा कप्पिया पुढो बाला ।

यह श्रीमद् आचारांग सूत्र का वचन है। भगवान् महावीर ने अपने ज्ञान में प्रत्यक्ष देखा है कि जगत् में जितने भी जीव हैं, उनकी दो श्रेणियाँ हैं—स्थावर और त्रस। इन दो श्रेणियों में संसार के समस्त जीवों का समावेश हो जाता है। यद्यपि यह दो श्रेणियाँ शाश्वत हैं, स्थायी है, अनादि और अनन्त हैं, मगर इसका अभिप्राय यह नहीं है कि आज जो जीव स्थावर है वह सदैव स्थावर रहेगा, कभी त्रस नहीं होगा और आज जो त्रस है वह कभी स्थावर रूप से उत्पन्न नहीं होगा। श्रेणियों के स्थिर होने पर भी उन श्रेणियों में रहे हुए जीव कर्मोदय से बदलते रहते हैं। त्रस जीव मर कर स्थावर के रूप में उत्पन्न हो सकते हैं और स्थावर जीव मर कर त्रस पर्याय के भागी हो सकते हैं। इस प्रकार नाम कर्म उदय के अनुसार यह पर्याय पलटते रहते हैं।

इस परिवर्त्तन के सिद्धान्त को सरलता से समझने के लिए एक उदाहरण लीजिए। हाई स्कूल में प्रथम से लेकर दसवीं तक दस कक्षाएँ होती हैं। वह दस कक्षाएँ प्रतिवर्ष ज्यों की त्यों रहती हैं, मगर आज जो विद्यार्थी जिस कक्षा में है, वह सदा उसी कक्षा

में रहेगा, ऐसा नहीं होता। उत्तीर्ण विद्यार्थियों की कक्षाएँ बदल जाती हैं। इसी प्रकार जो स्थावर नाम कर्म को भोग कर समाप्त कर चुका है और त्रसनामकर्म का बंध कर चुका है, वह जीव त्रस पर्याय में आजाता है। अगर किसी विद्यार्थी ने पूरी पढ़ाई नहीं पढ़ी है तो वह अगले वर्ष भी उसी कक्षा में रह जाता है। इसी प्रकार जिस जीव ने अपनी कायस्थिति पूरी नहीं की है, वह पुनः उसी पर्याय में जन्म ले सकता है, अर्थात् स्थावर जीव मृत्यु के बाद पुनः स्थावर भी हो सकता है। इसी प्रकार त्रस जीव फिर त्रस भी हो सकता है।

तात्पर्य यह है कि त्रस जीव मृत्यु के पश्चात् त्रस के रूप में अथवा स्थावर के रूप में भी जन्म ले सकता है और इसी प्रकार स्थावर जीव भी दोनों पर्यायों में से किसी भी एक पर्याय में उत्पन्न हो सकता है। त्रस जीव मर कर स्थावर ही होता है और स्थावर जीव मर कर त्रस ही होता है, ऐसा नियम नहीं, साथ ही यह नियम भी नहीं कि त्रसजीव पुनः त्रस ही हो और स्थावर जीव स्थावर ही हो। जो लोग यह समझते हैं कि त्रस जीव मृत्यु के पश्चात त्रस पर्याय में ही जन्म लेता है और स्थावर पुनः स्थावर-पर्याय में ही जन्मता है; इस मान्यता का इस सूत्र में विरोध किया गया है।

पृथ्वी, पानी, अग्नि, वायु और वनस्पति काय के जीव स्थावर कहलाते हैं। सुख पाने और दुःख से बचने के लिए जो जीव एक स्थान से दूसरे स्थान पर जात-आते नहीं और जिन्हे सिर्फ एक स्पर्शनेन्द्रिय ही प्राप्त होती है, वे स्थावर जीव कहलाते हैं। इनकी अपेक्षा अधिक विकसित दो तीन चार और पाँच इन्द्रियों वाले जीव त्रस कहलाते हैं। ऊँट, गाय, भैंस, बकरी, गधा, मक्खी, मच्छर, लट, कीड़ो आदि त्रस श्रेणी के प्राणी हैं। इनमें

से कोई भी जीव किसी भी योनि में जा सकता है और मनुष्य भी हो सकता है। मनुष्य होकर यदि संयम का पालन करता है तो केवलज्ञान प्राप्त करके मोक्ष भी पा सकता है। स्थावर योनि में भी एक भवावतारी जीव मौजूद हैं, किन्तु वे हैं केवल पृथ्वीकाय में, अप्काय में और वनस्पतिकाय में ही। अग्निकाय और वायुकाय में एकभवावतारी नहीं होते।

ऐसे जीव थोड़े हैं जो मोक्ष में जाएँगे। अनन्त जन्म-मरण करने वाले जीव असंख्य है।

तो जैसा कि ऊपर कहा गया है, यह चलते-फिरते जीव भी पृथ्वी, पानी, अग्नि, वायु और वनस्पति काय में जन्म ले लेते हैं। मनुष्य भी मर कर पृथ्वीकाय आदि में उत्पन्न हो सकता है। यह सब जीव विविध योनियों मे परिभ्रमण करते रहते हैं। संसारी जीव कभी कहीं और कभी कहीं जन्म ले लेता है।

जैसे यहाँ देख रहे हैं कि कई लोग पहले कभी करोड़पति या लखपति कहलाते थे, लेकिन अपनी पूंजी गँवाकर आज दरिद्र हो गये हैं, उसी प्रकार जो मनुष्य पुण्य रूपी पूंजी गँवा बैठता है, वह पृथ्वीकाय आदि स्थावर योनि में जन्म लेता और अपनी दुर्दशा करवाता है।

जो किसी दिन दुनिया को देते थे और आराम पहुँचाते थे, आज वही कहते हैं—हम दाने-दाने को मोहताज हैं।

अरे भाई! पैसे का क्या गुमान करता है! यह लक्ष्मी अत्यन्त चंचल है! अभी है और अभी नहीं है।

और मनुष्यभव का भी क्या अभिमान! क्या पता कि एक मिनिट बाद ही तेरी क्या रंगत होने वाली है! देखते-देखते क्या से क्या हो जाता है।

खबर नहीं या जग में पल की,
सुकृत करले प्रभु सुमर ले,
कुण जाने कल की ॥

आज देखो सेठानीजी के हाथों में सोने के गोखरू हैं और सेठजी के यहाँ दो-दो हजार के मुनीम है किन्तु कल देखो तो सेठ जी को ही रखने वाला कोई नहीं है ! उन्हे नौकरी भी नहीं मिलती।

कहो भाई, समय पलटते देर लगती है क्या ? इसलिए ज्ञानी कहते हैं कि सुकृत कर लो और प्रभु का स्मरण कर लो। अभी अवसर है तब नहीं करते तो अवसर बीत जाने पर क्या करोगे ? पास में पैसा नहीं होगा तो क्या दान करोगे ? मगर आज सेठजी दूसरे ही खयाल में हैं। कोई पूछता है कि अमुक परोपकार के लिए आपकी क्या इच्छा है ? तो सेठजी तनक कर उत्तर देते हैं-हर वक्त हमको ही देखते हो ? क्या गाँव में एक हम ही हैं ? मगर सेठ ! समझ तो सही कि सार्वजनिक काम करने वाले हर वक्त पुण्यवान् को ही देखते हैं। तू गुस्सा मत हो, अपनी तकदीर की सराहना कर। अपने भाग्य को अच्छा समझ कि लोग तेरे पास आते हैं !

कई लोग साधुओं पर आक्षेप करते हैं कि वे श्रीमानों को लक्ष्य करके ही उपदेश देते हैं। परन्तु उन्हें समझना चाहिए कि खाली हाथ मुंह में नहीं जाता। कौर होगा तो ही वह मुंह में जाएगा। हमें क्या सोने के पात्र बनवाने हैं, या ओघे की डंडी सोने की तैयार करानी है ? साधुओं के लिए तो सब समान हैं। फिर भी तेल तिलों मे से ही निकलता है, रेत में से नहीं। साधु यदि

श्रीमंतों को संबोधन करते हैं तो उनका अभिप्राय यही होता है कि यदि उनके अन्तःकरण में उदारता उत्पन्न हो और वे ममता का त्याग करें तो गरीबों का भला हो। इस प्रकार वास्तव में गरीबों का लक्ष्य करके ही श्रीमानों को संबोधित किया जाता है। श्रीमंतों से साधुओं को क्या लेना है? उन्हें अपना घर नहीं भरना है। उनके घर है ही कहाँ? जीवन निर्वाह के लिए रोटी चाहिए सो तो गरीब से भी मिल सकती है और अमीर से भी मिल सकती है।

देखो, जिस समय महाराणा प्रताप के पैर भी उखड़ गये और वे सोचने लगे कि अब मेवाड़ को स्वतंत्र रखने के साधन मेरे पास नहीं रहे, तब किसने उनकी मदद की थी?

आज लोग मिजाज करते है और कहते हैं कि पैसे की आवश्यकता नहीं। बनिये किसी काम के नहीं। ऐसे लोग उनकी बुराई करते हैं और कहते हैं कि पूंजीवाद का खात्मा होना चाहिए। मगर जब तुम यह कहते हो कि पानी ही नहीं रहना चाहिए तो तुम भी पीओगे कहाँ से? देश की समृद्धि व्यापार पर निर्भर है और जो व्यापार करता है वही बनिया है ऐसी स्थिति में वणिकों की बुराई क्यों करनी चाहिए?

समय आने पर कोई तन से, कोई मन से और कोई धन से सहायता करता है। जिसके पास जो शक्ति हो, उसी से दूसरों की सेवा-सहायता करना मनुष्य का कर्त्तव्य है। मेवाड़ पर संकट आया तो भामाशाह ने बात रख ली। भामाशाह के पास पैसा न होता तो महाराणा प्रताप क्या कोरी वीरता की बातें करके मेवाड़ की रक्षा कर लेते? भूखे सैनिक कब तक हथियार चलाते?

दुनियाँ में मशहूर है कि काणा हाकिम सब को एक ही आँख से देखता है। इसी प्रकार कई लोग लेख लिखते हैं, बातें

करते हैं और हरेक की बुराई करते हैं, मगर वे काणे हाकिम की तरह बात को एक ही पहलू से देखते हैं, सब पहलुओं से देखने का कष्ट नहीं करते।

भामाशाह ने कहा—महाराणा! आप मेवाड़ छोड़कर चले जाएँगे तो कुछ नहीं रहेगा अवशेष।

महाराणा ने उत्तर दिया—मैं अकेला क्या कर सकता हूँ? मैं तो प्राणों की बाजी लगाकर भी लड़ने को तैयार हूँ, लेकिन पैसे के बिना कुछ भी नहीं हो सकता।

भामाशाह—बस, यही बात है! आप इसकी चिन्ता न करें। आपके इस सेवक के पास इतना धन है कि वर्षों लड़ते रहें तो भी समाप्त नहीं होगा।

यह सुना तो महाराणा के हृदय में नवीन उत्साह और नवीन प्राण आ गया!

कहो भाइयो, भामाशाह की ही वक्त पर जरूरत पड़ी। अभिप्राय यह है कि देश की भलाई के लिए सब प्रकार की शक्तियों की आवश्यकता पड़ती है। धन भी एक महान् शक्ति है। उसकी उपेक्षा नहीं की जा सकती। समय पर उसकी भी आवश्यकता है। अतएव धन का जितना महत्त्व है उतना स्वीकार न करने से भी कैसे चलेगा? वह तो स्वीकार करना ही होगा।

हाँ, यह ठीक है कि जो धन तिजोरियों में पड़ा-पड़ा ही या धरती में गड़ा-गड़ा ही सड़ता रहता है, उसकी उपयोगिता नहीं। समय आने पर वह काम में आना चाहिए। वही धनवान प्रशंसा के योग्य है जिसका धन गरीबों की धरोहर है। गरीबों पर जब संकट आया और उनका जीवन जब सकट खतरे में हो, उस समय भी जो

श्रीमंत अपने धन को प्राणों की तरह छाती से चिपकाये रहता है और गरीबों के लाभ के लिए विनियोग नहीं करता, उसका धन निकम्मा है और उस धन का स्वामी प्रशंसा का पात्र नहीं हो सकता।

इसी प्रकार जो धन गरीबों की मुसीबत का फायदा उठा कर संचित किया जाता है, गरीबों के पेट पर लात मार कर इक्ट्ठा किया जाता है और जिसे संचित करने के लिए अनीति और अधर्म का आश्रय लिया जाता है वह धन धनवान् के लिए शोभा का कारण नहीं। ऐसे धन से धनी का अधःपतन होता है। वह पाप का संचय है। धन और धनी से दुनिया को कोई लाभ नहीं।

तो यह समझ लीजिए कि हम अगर धनवानों को लक्ष्य करके उपदेश देते भी हैं तो उन्हें यह नहीं कहते कि तुम गरीबों को चूसो, सताओ और धन इकट्ठा करो। हम तो यही कहते हैं कि अपने धन से परोपकार करो। जिनके पास से वह आया है, आवश्यकता पड़ने पर उन्हीं की सेवा में समर्पित कर दो। हमें अपने लिए चाहिए ही क्या ? पेट मे रोटी और तन ढँकने को सदा सफेद कपड़ा। ऐसे निस्पृह साधु तो ढूँढने पर भी नहीं मिलेंगे। ऐसे अवश्य मिलेंगे जो चींमटा फटकार-फटकार कर गांजे के लिए पैसे मांगेगे। मगर यह धर्म तो ऐसा है कि-'कौड़ी लगे न टक्को और दया धर्म है पक्को।' तुम जो कुछ भी त्याग करते हो, अपने लाभ के लिए ही करते हो। हम अपने लिए तुमसे कुछ भी नहीं माँगते। तुम भामाशाह सरीखे बनोगे तो युग-युग में तुम्हारी ही प्रशंसा होगी। तुम्हारे ही यश के गीत गाये जाएँगे। अपने पापों को भी हल्का कर सकोगे।

आज पूंजीवाद के विरुद्ध जो आन्दोलन हो रहा है, उसका

जन्म वस्तुतः पूंजीवाद से हुआ है। श्रीमंतों ने पूंजी इकट्ठी तो कर ली परन्तु मूंजी बनकर सार्वजनिक कार्यों और परोपकार के कार्यों में उसका व्यय नहीं किया, इस कारण वे बहुभाग गरीब जनता की दृष्टि में अखरने लगे। इसके परिणामस्वरूप आज इस आन्दोलन का प्रसार हो रहा है। यह आन्दोलन श्रीमंतों की हार्दिक उदारता से रुक सकता है। इस प्रकार की उदारता से पारलौकिक कल्याण भी होगा और लौकिक कल्याण तो होगा ही।

जब एक मुनिराज को तकलीफ हो गई तो जीवानन्द वैद्य के पाँच मित्रों ने उससे कहा-हे मित्र! यदि तुम मुनिराज की चिकित्सा नहीं करते तो तुम्हारा आयुर्वेद सीखना और दवाखाना चलाना किसी काम का नहीं। देखते नहीं हो, मुनिराज के शरीर में कीड़े पड़ गये हैं। फिर भी तुम इलाज नहीं करते हो।

जीवानन्द वैद्य बोले-मित्रो! मैं इलाज करने को तैयार हूं, लेकिन दो चीजों की आवश्यकता है। एक रत्न कंबल चाहिए, दूसरा गोशीर्ष चन्दन।

मित्रों ने कहा—ठीक है, यह दोनों चीजें हम ला देते हैं।

पाँच मित्रों में एक राजकुमार था। वह बड़ा साधु-भक्त था। धर्म में उसकी गहरी आस्था और रुचि थी। वह चाहता तो अपने नौकरों द्वारा भी यह दोनों वस्तुएँ मँगवा सकता था, लेकिन उसने विचार किया—ऐसे महान् उपकार का कार्य तो अपने ही हाथ से करना चाहिए—इस पुनीत कार्य के लिए स्वयं जाना चाहिए। कहा है—

खेती-पाती वीनती, चौथी चले खुजाल।
दान मान सम्मान तो, हाथों हाथ संभाल॥

खेती नौकरों के भरोसे कर दोगे तो खेती नष्ट हो जाएगी। इसी प्रकार राजा को लाने के लिए भी खुद को ही जाना चाहिए। जैसा आदमी हो उसका स्वागत भी वैसा ही होना चाहिए। खुजली चले तो वह भी अपने ही हाथ से खुजानी पड़ती है। दूसरों से खुजलवाना ठीक नहीं होता।

नौकर को क्या पता कि सेठजी को कहाँ खुजली चल रही है। कदाचित पता चल जाय तो भी कितने परिमाण में खुजाना, यह उसे मालूम नहीं होता। इसी तरह दान अगर दूसरे के हाथ से दिलवाओगे तो उसी को लाभ होगा। अतएव जिसे दान जनित पुण्य का भागी होना है उसे चाहिए कि अपने ही हाथ से दान दे। मान भी स्वयं करना चाहिए और जिस किसी बड़े का सत्कार करना है, स्वयं ही करना चाहिए। कोई बड़ा आदमी तुम्हारे घर पर आवे और तुम सत्कार के लिए अपने नौकरों को नियुक्त कर दो तो वह सत्कार नहीं होगा। आने वाला इसे अपना अपमान मानेगा।

इन सब कामों को व्यवस्थित ढंग से और उत्तम रीति से करना है तो अपने ही हाथों से किया जाता है।

आपको ज्ञात होगा कि जब मुनिराज महलों में गोचरी के लिए पधारे और उन्हें प्यास लगी तो राजा शंख ने और उनकी रानी ने अपने हाथों से दाखों का धोवन वहाराया था। इस उदार और भक्तिपूर्ण भावना के कारण राजा शंख ने भगवान् नेमिनाथ के रूप में और उनकी रानी ने राजीमती के रूप में जन्म धारण किया और साधना करके मोक्ष प्राप्त किया।

तो इस नीति के अनुसार राजा का लड़का और जीवानन्द वैद्य आदि पाँचों मित्र एक सेठ की दुकान पर गये। जाकर

पूछा—क्या आपके यहाँ रत्न कंवल और गोशीर्ष चन्दन मिलेगा ?

सेठ राजकुमार को देखकर नम्रता प्रदर्शित करने के लिए खड़ा हुआ और बोला—हुजूर, पधारिए। मेरे बड़े भाग्य कि आपका पदार्पण हुआ। यह कह कर उसने आदर के साथ उन्हे बिठलाया।

उस सेठ के यहाँ रत्नकबलों का और गोशीर्ष चन्दन का थोक व्यापार था। एक रत्नकबल की कीमत सवा लाख सोनैया थी। एक सोनैया सवा तोला साने का सिक्का होता था। प्राचीन काल में यह एक प्रसिद्ध सिक्का था।

सेठ ने कहा—दोनों चीजें तैयार है।

राजकुमार—ठीक है दे दो। इनकी कीमत खजाने से मिल जाएगी।

सेठ—राजकुमार! आपने क्यों कष्ट किया? किसी कर्मचारी द्वारा सदेश मिल जाता तो वहीं आपकी सेवा में पहुँच जाती।

राजकुमार—एक मुनिराज को तकलीफ है। उनकी चिकित्सा के लिए हमने जीवानन्दजी को कहा तो इन्होंने इनकी आवश्यकता अनुभव की। अतएव इन्हे लेने के लिए हम स्वय आ गये हैं। यह परोपकार का काम था, अतएव सोचा कि हमें स्वयं चलना चाहिए।

सेठ—तो मेरी बात सुनिये। मुझ पर कृपा कीजिए। आप राजा के कुमार हैं और परोपकार के लिए स्वयं चल कर आये हैं। आपके लिए इतना कष्ट ही पर्याप्त है। मुझसे अधिक तो कुछ नहीं बन पड़ा, मगर इन दोनों चीजों का लाभ मुझे ही लेने दीजिए। मेरी इच्छा यह है कि इनकी कीमत न लूँ।

पूंजीपति के सिवाय इन चीजों को कौन खरीद सकता था या दे सकता था ? जीव तो सब में समान है, परन्तु पुण्यवानी का फर्क कौन मिटा सकता है। यही प्रत्यक्ष देख लीजिए ! एक सेठजी की औरत मर जाती है तो सैंकड़ों दागिया इकट्ठे हो जाते हैं और जब गरीब की औरत मरती है तो गिने चुने आदमी ही आते हैं।

हां तो राजकुमार आदि रत्नकंबल और गोशीर्ष चन्दन लेकर वैद्यराज के घर आये। जीवानन्द ने अपने पास से तेल आदि अन्य औषधे ली। तत्पश्चात सब मिलकर मुनिराज के पास पहुंचे।

मुनिराज सर्वथा निस्पृह थे। शरीर में रहते हुए भी मानों शरीर के अध्यास से सर्वथा विमुक्त थे। बीमारी की उन्हे बिलकुल चिन्ता नहीं थी।

पांचों मित्रों ने पकड़ कर उन्हें नीचे लिटाया। जीवानन्द ने उनके सारे शरीर पर तेल की मालिश की और फिर ऊपर से चन्दन का लेप किया। यह सब करके उन्हे रत्नकंबल ओढ़ा दिया। ऐसा करने का परिणाम यह हुआ कि शरीर में जितने भी कीड़े थे, सब एक-एक करके बाहर आगये और कंबल मे समा गये। तब उन्होंने वह रत्नकंबल ले जाकर एक मरी हुई गाय के ऊपर डाल दिया, जिससे सब कीड़े उसमें चले गये।

भाइयो ! इसे कहते हैं विवेक ! इन विचारवान् जीवों ने मुनिराज की भी रक्षा कर ली और कीड़ों की भी हिंसा नहीं होने दी।

कीड़े निकल जाने से मुनिराज को साता हो गई। साता पहुँचाने वाला जीवानन्द वैद्य का जीव आगे चलकर भगवान्

ऋषभदेव के रूप में उत्पन्न हुआ और पाँचों मित्र भरत चक्रवर्त्ती, ब्राह्मी, सुन्दरी आदि हुए। वह सेठ मर कर श्रेयांसकुमार के रूप में जन्मा।

तात्पर्य यह है कि धन प्राप्त करने की सार्थकता इसी में है कि वह परोपकार के काम में आवे। जो धन परोपकार के काम में नहीं आता, वह पुण्य का कारण न बन कर पाप का ही कारण बनता है। उससे आत्मा का पतन होता है।

धन की जगह धन से ही काम चलता है। गृहस्थाश्रम में धन की आवश्यकता होती है और यह भी सच है कि धन के अभाव में गृहस्थाश्रम दुःखमय हो जाता है। इसी कारण नीतिकार कहते हैं—

पूज्यते यदपूज्योऽपि, यदगम्योऽपि गम्यते।
वन्द्यते यदवन्द्योऽपि, स प्रभावो धनस्य च।

अर्थात्—धन का संसार में इतना जबर्दस्त प्रभाव है कि उसके कारण सत्कार न करने योग्य व्यक्ति का भी सत्कार किया जाता है, जिसके निकट फटकने की भी इच्छा नहीं होती उसके पास भी जाना पड़ता है और नमस्कार न करने योग्य मनुष्यों को भी नमस्कार करना पड़ता है।

और भी कहा है:—

धनैर्निष्कुलीना कुलीना भवन्ति,
धनैरापदं मानवा निस्तरन्ति।
धनेभ्यः परो बान्धवो नास्ति लोके,
धनान्यर्जयध्वं धनान्यर्जयध्वम्॥

नीतिकार कहते हैं-हे मनुष्यो! धन कमाओ, धन-कमाओ. क्यों कि धन के प्रभाव से कुलहीन भी कुलीन हो जाते हैं। कैसी भी आपत्ति क्यो न आन पड़े, तो भी मनुष्य धन की सहायता से उसे सकुशल पार कर लेता है। अगर भलाभाँति गहराई से विचार कर देखोगे तो पता चलेगा कि इस संसार में धन से बढ़ कर अन्य कोई सहायक नहीं है।

यह नीतिकार का ही कथन है। धर्मशास्त्र इस कथन का समर्थन नहीं करते, क्योंकि उनकी दृष्टि परलोक पर भी रहती है। नीतिशास्त्र का संबंध वर्त्तमान जीवन से है, अतएव वर्त्तमान जीवन की अपेक्षा इस कथन में बहुत कुछ सचाइ है।

कई लोग पूंजीवाद की निन्दा करते हैं और धनवानों की भी निन्दा करते हैं। मगर जब अवसर आकर पड़ता है तो वही लोग धनवानों के द्वार पर बार--बार चक्कर लगाते है और उनकी आजीजी करते हैं।

कहते हैं—चन्दा कर लो साहब ! चन्दा कर लो। मगर जब चन्दा आरंभ होता है तो रकम लिखाने वाले ही लिखाते हैं। शरीर से सेवा करने वाले सेवा करेंगे और बौद्धिक सहायता करने वाले बुद्धि से सहायता करेंगे। सबका न्यारा-न्यारा काम है। एक ही पहलू पकड़ने से काम नहीं चल सकता!

अभिप्राय यह है कि धन भी एक महान् शक्ति है, परन्तु उस शक्ति की उपयोगिता उसके सदुपयोग में है जैसी कि अन्यान्य शक्तियों की भी होती है। जो धन पाकर उसका दुरुपयोग करता है, वह मानों अपनी ही शक्ति से अपना सर्वनाश करता है। अतएव मनुष्य को समझना चाहिए कि इस जीवन का भरोसा नहीं है। जीवन टिका भी रहे तो भी यह नहीं कहा जा सकता कि धन भी

बना रहेगा। आज जो लखपति है वह सदैव लखपति ही रहेगा, यह नहीं कहा जा सकता। कल की किसको खबर है कि क्या हो जाय ! एक पल का भी भरोसा नहीं हैं। और आज की जैसी परिस्थिति में तो तनिक भी भरोसा नहीं किया जा सकता।

विजयनगर में बाढ़ आई थी। विजयनगर के पास ही राजनगर नामक एक गांव है वहाँ एक मुसलमान के घर में करीब ६० आदमी थे। पानी विजयनगर में फैला तो उस घर का बुड्ढा मुसलमान बोला–या अल्लाह ! खूब सुनी कि यह काफिर मर रहे हैं ! मुसलमान कसाई था और बहुत खुश हो रहा था। मगर अल्लाह ने ऐसी सलाह दी कि थोड़ी देर के बाद ही पानी उसी गाँव की तरफ बढ़ा और काफिरो की मौत पर खुश होने वाले मुसलमान के घर के सब लोग बह गये। अकेल बुड्ढा ठूंठ को तरह बच रहा।

वह अभागा बूढ़ा हमें मिला था। देख कर रोने लगा और विलाप करने लगा कि इतने आदमियों में से अकेला मैं ही बचा हूँ।

अरे मूर्ख, क्या सोचता है ? इस हवा को इधर से उधर होते क्या देर लगती है ?

विवेकशील मनुष्य भविष्य पर भरोसा न करके वर्त्तमान को ही सुधारने का प्रयत्न करता है। वह वर्त्तमान मे जो कुछ बन सकता है,उसे करने में कजूसी नहीं करता। कोई मूर्ख अटसंट बोल भी दें तो परोपकारी मनुष्य को उनकी तरफ ध्यान न देकर निरन्तर परोपकार करते रहना चाहिए। किसी भी शुभ कार्य में आलस्य या प्रमाद नही करना चाहिए।

और निन्दा करने वालो ! तुम्हे भी सावधान होना चाहिए। निन्दा करके तुम क्या पा लोगे ? घमंड या ईर्षा करके तुम दूसरे

की सच्ची-झूठी बुराई करते हो, पर यह तो सोचो कि ऐसा करने से तुम्हारे पल्ले क्या पड़ता है ? किसी की गंदगी अपनी जीभ पर लाते हो इसमें तुम्हें क्या रस मिलता है ? दूसरे की बुराई करने वाला उसके दोष ही दोष देखने की कोशिश करता है। ऐसा करने से वह दोषप्रिय बन जाता है और फिर दोषों का कोष बनते देर नहीं लगती। हे निन्दक ! याद रख, निन्दा करके इस जीवन को हार गया और पृथ्वीकाय या जलकाय में जन्म ले लिया तो लोग मुँह में कुल्ला करके थूक देंगे और उससे अपवित्र अवयव धोवेंगे।

सारा संसार परिवर्त्तन शील है। क्या जीव और क्या पुद्-गल, सभी में क्षण-क्षण परिणमन हो रहा है। यहाँ कोई भी वस्तु एक रूप में रहने वाली नहीं है। आज एक जीव मनुष्यपर्याय में है। वह मर गया और उसका शरीर दग्ध कर दिया गया। उसके शरीर की राख खेत में पड़ गई और उससे टिंडे अथवा कोई दूसरी चीज़ तैयार हुई। खेत में पड़ने से उसकी कोई न कोई चीज़ तैयार हो ही जाती है।। बनी हुई चीज़ उसके कुटुम्बी भी काम में लाते हैं! इस प्रकार कौन कह सकता है कि संसार में क्या-क्या गुल खिलते रहते हैं। यह शरीर आज किस रूप में है और कल किस रूप में होगा। पर्याय सदैव पलटते रहते हैं। आज के युवक किसी दिन शिशु थे और किस रंगढंग में रहते थे। वह पर्याय पलट गया और जवानी आ गई। वह भी टिकी न रही और बुढ़ापा आ गया। रंग पलट गया।

इसी प्रकार त्रस जीव मर कर स्थावर और स्थावर मरकर त्रसजीव हो जाता है। आज जिसका शरीर अत्यन्त खूबसूरत दिखलाई पड़ता है, उसी के शरीर की थोड़े ही दिनों में ऐसी हालत हो जाती है कि कोई पास में बैठना भी पसंद नहीं करता। सब

लोग देख-देख कर घृणा करते हैं। जिस शरीर को देखकर आज आप खुश होते हैं; कल उसी को देख कर नफरत करने लगते है।

अतएव ज्ञानी जन कहते हैं कि यह सब उलटफेर तो होते ही रहते हैं। इस तन का क्या भरोसा है ! यह तो पानी में पतासे की तरह है। जैसे पानी मे पतासे को गलते देर नहीं लगती, उसी प्रकार इस शरीर को नष्ट होते देर नहीं लगती। एक मिनिट की भी खबर नहीं है। अतएव हे जीव ! सुकृत कर ले।

गोरो गोरो गाल देखी काय को गुमान करे,
रंग सों पतंग रंग कल उड़ जायगो।
धुंआ को सो धर हर ढहता न लागे वार,
नदी के किनारे रूख सामल उठ जायगो।
वोलता से वोलिए न वोलिए गुमान कर,
जीवन गमाय फिर कौड़ी ही न पायगो।
मानव की गंदी देह जीवता ही आवे काम,
मुआ वाद काग कुत्ता सियाल हू न खायगो॥

अरे भाई ! काच में मुँह देखकर बड़ा घमण्ड कर रहा है, मगर यह रंग उड़ते क्या देर लगेगी ? ऐंजिन में से धुंआ निकलते समय कितना सघन दिखाई देता है, परन्तु थोड़ी ही देर मे वह न मालूम किधर का किधर चला जाता है। इसी प्रकार नदी के किनारे पर वृक्ष खड़ा है और हवा के हिंडोलें में लहरें ले रहा हैं। मगर क्या होगा ?

नदी किनारे रूखड़ो रे, झुक झुक झोला खाय।
चेतना हो तो चेतजो रे, जोवन ढलियो जाय।
हो जीवराज! थे तो आछो प्राक्रम फोड़ो,
म्हा का राज!

सरिता के तट पर हरा-भरा वृक्ष तन कर खड़ा है। पत्तों से अत्यन्त सघन और फलों से सम्पन्न है। लोग कहते हैं:—यह बड़ा ही सुन्दर और सुहावना तरु है। इसकी श्री निराली है। मगर हा दैव! सहसा नदी में बाढ़ आई और उसने वृक्ष की जड़ें उखाड़ दीं और वह नदी के प्रवाह में वह गया! पता ही न लगा।

क्या यह जीवन भी इसी प्रकार क्षणिक नहीं है? अभी-अभी है और अभी-अभी नहीं है, यही इसका स्वभाव है। न जाने कब पानी की बाढ़ आ जाय और कब यह समूल उखड़ कर नष्ट हो जाय! अतएव चेतना हो तो चेत जाओ। यह जवानी ही कुछ कर डालने का समुचित समय है। कमाना हो तो कमा लो और दिवाला निकालना हो तो वह भी कर सकते हो। इस यौवन-काल में परोपकार आदि सुकृत करके पुण्य का भी उपार्जन कर सकते हो, आत्मकल्याण भी कर सकते हो और पापों का संचय भी कर सकते हो। मगर विवेक का तकाजा तो यही है कि यह उत्तम पर्याय पाकर आत्मा का हित करो, अपने भविष्य को मंगल-मय बनाओ और सुख का द्वार खोल दो। जो ऐसा नहीं करते और प्रमाद में ही जीवन नष्ट कर देते हैं, उनके लिए घोर पश्चात्ताप और विषाद ही शेष रह जाता है। याद रख, मरने के बाद कुछ भी होने वाला नहीं है। अतएव ऐसा मत कर कि दुनिया ही दुनिया की तरफ देखे और धर्म की तरफ नज़र ही न रक्खे। धर्म की तरफ भी देख। एकान्त पक्ष लेकर मत बैठ।

भगवान् महावीर का अनेकान्त पक्ष है। वे कहते हैं कि प्रत्येक विचार में अनेक पहलू हैं। सभी पहलुओं से वस्तु का विचार कर। दुनियादारी का विचार करता है तो धर्म का भी विचार कर। इस लोक के लिए पुरुषार्थ करता है तो परलोक के लिए भी उद्योग कर। ईश्वर के स्मरण के लिए भी कुछ समय बचा। सारा का सारा समय पेट के लिए और आमोद-प्रमोद के लिए ही मत व्यय कर। यह मत भूल कि तुझे परलोक भी जाना है। जीवन का अन्त अवश्यंभावी है और उसके बाद परलोक की यात्रा भी अवश्यंभावी है। इस सत्य पर संदेह करना मूर्खता है। खतरे की ओर से आँख मीच लेने से खतरा टल नहीं जाता।

हे चिदानन्दजी ! मनुष्यजन्म सरीखी अनमोल चीज तुम्हारे हाथ आई है। देखो, यह बहुत बड़ी चीज है। बड़ी ही कठिनाई से कभी-कभी हाथ आती है। देवता भी इसके लिए तरसते हैं। तुम्हें यह रत्न प्राप्त हो गया है तो अपने आपको भाग्यवान् मानो। इससे कुछ बड़ा लाभ कमाओ। पुरुषार्थ करो, पराक्रम फोड़ो। पुरुषार्थ भी ऐसा करो जिससे इस भव में और परभव में भी सुख की प्राप्ति हो। भगवान् के इस कथन को स्मरण रक्खो कि यह जीव त्रस से स्थावर भी हो सकता है। इस पर ध्यान देकर प्राप्त अवसर से लाभ उठा लो। इस मानव शरीर से अच्छा कार्य कर लो। सामायिक की साधना करो-जीवन में सम-भाव जगाओ। राग-द्वेष की आग को शान्त करो। कषायों को जीतने का प्रयत्न करो। फिर याद रक्खो और कभी मत भूलो कि यह उत्तम जन्म पुनः पुनः प्राप्त होने वाला नहीं है। ऐसा समझ कर धर्म का आचरण करोगे तो आनन्द ही आनन्द होगा।

ब्यावर
२५-१०-४७

सप्रेम भेंट—

तालेरा पब्लिक चेरीटेबल ट्रस्ट

महावीर बाजार, ब्यावर

श्री दिवाकर दिव्य ज्योति

भाग १ से १७

मूल्य प्रत्येक भाग का ? रुपया

अगले भाग भी जल्दी ही आपकी सेवा में पेश किये जायेंगे।

सर्वोपयोगी जैन साहित्य खरीदकर लाभ उठावें।

यहाँ पर स्व० जैन दिवाकर प्र० व० पं० मुनि श्री चौथमलजी महाराज सा० के व्याख्यानों में से संकलित सर्वोपयोगी भागों के सेट एवम् गद्य, पद्य, पुस्तकें तथा पूज्य श्री जवाहरलालजी म० सा० का जवाहर साहित्य कविवर्य श्री अमरचंदजी म० की अमर कृतियां तथा भिन्न २ जैन प्रकाशन संस्थाओं द्वारा प्रकाशित सभी पुस्तकें हमारे कार्यालय में प्राप्त हो सकती है। आप अवश्य खरीदकर पढ़िये एवम् प्रचार कीजिये।

नोट—हमारे यहां ओघे, पूजनी पात्रों के जोड़े, माला तथा ऊन व सूत के आसन, रेत की जर्मनी साम,यिक घड़ी, जैन आरती का रेकार्ड, घर में सजाने लायक जैन धर्म सम्बन्धी फोटो आदि धार्मिक चीजें कार्यालय [illegible] गो। अवश्य मंगावें।

—

का० दिव्य ज्योति कार्यालय
, मु. पो ब्यावर (अजमेर)